वातावरण के परिवर्तन का आध्यात्मिक प्रयोग

लेखक :

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१० मूल्य : १०.०० रुपये

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

लेखक :

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

"अध्यात्मवेत्ता कहते हैं कि समस्त मनुष्य-समाज एक शरीर की तरह है और उसके घटकों को सहयोगी की तरह रहना पड़ता है। एक नाव में बैठने वाले साथ-साथ पार होते या डूबते हैं। मानवीय चरित्र और चिंतन यदि निकृष्टता के प्रवाह में बहेगा तो उसकी अवाँछनीय प्रतिक्रिया सूक्ष्म जगत में विशाक्त विक्षोभ उत्पन्न करेगी और प्राकृतिक विपत्तियों के रूप में उसका दंड सहन करना होगा। तरह-तरह के दैवी प्रकोप, संकट और त्रास अस्त-व्यस्त करके रख देंगे। अतएव हर व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपनी सज्जनता तक ही सीमित न रहे, वरन आगे बढ़कर सभ्यता के क्षेत्रों में व्याप्त अवाँछनीयता को भी रोकने का प्रयत्न करे। जो इस सामूहिक धर्म की अवहेलना करता है, वह भी विश्व-व्यवस्था की अदालत में दोषी माना जाता है।"

मुद्रक :

युग निर्माण योजना प्रेस,

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

युग-परिवर्तन की संधिवेला

युग-परिवर्तन की घड़ी सन्निकट है। व्यक्ति में दुष्टता और समाज में भ्रष्टता जिस तूफानी गति से बढ़ रही है, उसे देखते हुए सर्वनाश की विभीषिका सामने खड़ी प्रतीत होती है। किंतु ऐसे ही विषम असंतुलन को समय-समय पर सुधारने सँभालने के लिए स्रष्टा की प्रतिज्ञा भी तो है। अपनी इस अनुपम कलाकृति, विश्व वसुधा को नियंता ने बड़े अरमानों के साथ बनाया है। संकटों की घड़ी आने पर उसका अवतरण होता है और असंतुलन फिर संतुलन में बदल जाता है। अधर्म को निरस्त और धर्म को आश्वस्त करने वाली ईश्वरीय सत्ता आज की संकटापन्न विषम वेला में उज्ज्वल भविष्य की संरचना के लिए अपनी अवतरण प्रक्रिया को फिर संपन्न करने वाली है।

यह आवश्यकता क्यों उत्पन्न हुई ? प्रश्न उठना स्वाभाविक है। उत्तर एक ही है-इन दिनों व्यापक क्षेत्रों में जो असंतुलन उत्पन्न हो रहा है, वह इतना बढ़ गया है कि अब स्रष्टा ही उसे संतुलन में साध और ढाल सकता है। यह स्थिति कैसे उत्पन्न हुई ? इसका उत्तर है कि धरती की व्यवस्था सँभालने का उत्तरदायित्व स्रष्टा ने मनुष्य को सौंपा है। साथ ही उसे इतना समर्थ शरीरतंत्र दिया है कि वह न केवल जीवधारियों के लिए सुख-शांति बनाए रहे वरन ब्रह्मांड में संव्याप्त अदृश्य शक्तियों को भी अनुकूल रहने के लिए सहमत रख सके। अपने उस उत्तरदायित्व में व्यतिरेक करके जब मनुष्य अनाचार और उद्दंडता बरतता है-चिंतन को भ्रष्ट और आचरण को दुष्ट बनाता है तो उसकी प्रतिक्रिया अदृश्य जगत का संतुलन बिगाड़ती है और विपत्तियों का विक्षोभ उत्पन्न करती है। दैवी प्रकोप प्रत्यक्ष में लगते तो ऐसे हैं मानो अदृश्य द्वारा मनमानी की जा रही है। किंतु अदृश्य और अप्रत्यक्ष को जो जानते हैं उनका स्पष्ट मत है कि पानी में पत्थर

फेंकने और छींटे उठाने की जिम्मेदारी उन लड़कों की है जो तालाब के एक कोने पर बैठे शरारत करते रहते हैं। तालाब अकारण उछलने लगे और अपने जलचर परिवार के लिए संकट करे ऐसी बात है नहीं, प्रतीत भले ही होती हो।

इन दिनों उभरने वाले प्रकृति-प्रकोपों का सिलसिला अगले दिनों घटेगा नहीं बढ़ेगा। इस आशंका से सभी चिंतित हैं। भय अकारण है या सकारण इसका अन्वेषण करने पर कितने ही तथ्य सामने आते हैं और अशुभ संभावना की पुष्टि करते हैं। आणविक विस्फोटों के कारण बढ़ता हुआ विकिरण, विषाक्त ईंधन से उत्पन्न वायु प्रदूषण, पृथ्वी के इर्द-गिर्द चक्कर काट रहे प्रायः ४००० उपग्रहों के कारण सुरक्षा परतों में विक्षोभ, ऊर्जा के बढ़ते उपयोग से गरमी का बढ़ना और उसके कारण हिम प्रदेशों का असंतुलित रीति से पिघलना, भूगर्भ से खनिज संपदा निचोड़ लेने पर उसका खोखला एवं ठंढा होते जाना आदि कितने ही कारण हैं जो धरती की भीतरी सतहों और बाहरी वातावरण में विक्षोभ उत्पन्न करते देखे जा सकते हैं। इन्हें मनुष्य की प्रकृति के साथ उद्धत छेड़खानी कह सकते हैं। छेड़ने पर तो चींटी भी काटती है फिर नियति क्यों चूकने लगी!

अध्यात्म विज्ञान का प्रतिपादन है कि प्रकृति ही सब कुछ नहीं है। उससे भी ऊपर एक चेतन सत्ता है, जिसकी प्राणियों के साथ व्यवहार करने की विधि को 'नियति' कहते हैं। दिव्यदर्शी इस नियति को ही प्रधानता देते हैं और प्रकृति के संतुलन को बनाने-बिगाड़ने में इसी को उत्तरदायी मानते हैं। उनका कहना है कि प्रकृति से भौतिक छेड़खानी करने पर दैवी प्रकोप बरसना एक पक्ष तो है पर वही सब कुछ नहीं है। उससे भी बड़ी बात है-मानवी चिंतन और चरित्र से उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रिया जो प्रकृति की नियामक सत्ता 'नियति' पर प्रभाव डालती है। अनाचरण से नियति की अंतरात्मा क्षुब्ध होती है फलतः उसका प्रकृति कलेवर भी आक्रोश का, आवेश का परिचय

देता है। दैवी प्रकोपों के मूल में जितना दोष प्रकृति व्यवस्था को उद्धत रूप से छेड़खानी करने का है उससे भी अधिक भ्रष्ट चिंतन और दुष्ट आचरण का आश्रय लेने वाली मानवी निकृष्टता का है। नियति उसी से रुष्ट होती है और उसी के फलस्वरूप दृश्य एवं अदृश्य विपत्तियाँ समस्याएँ तथा विभीषिकाएँ उभरती-त्रास देती हैं।

अंतरिक्षविज्ञानी इन दिनों सौरमंडल तथा उससे ऊपर के ब्रह्मांड क्षेत्र का पर्यवेक्षण करते हैं तो कहते हैं कि पृथ्वी के लिए ये परिस्थितियाँ संकटापन्न हैं। सभी जानते हैं कि पृथ्वी की अपनी निज की जितनी शक्ति और संपदा है, उसे उससे कहीं अधिक अनुदान लेकर अपना गुजारा करना पड़ता है। सौर ऊर्जा उसका प्राण है। इसके अतिरिक्त अन्य ग्रहों से आने वाले ब्रह्मांडीय अनुदान उसे उपलब्ध होते हैं। ऊपर के वातावरण की छलनी में छनकर ध्रुवों के माध्यम से जो संपदा धरती को प्राप्त होती है उसी से उसका गौरव एवं वैभव इस स्तर तक पहुँचा है। ऐसी परिस्थितियाँ न हों तो वह भी सौरमंडल के अन्य ग्रहों की तरह-बुध की तरह आग बबूला होकर प्लेटो की तरह हिमपिंड बनकर-शुक्र की तरह विषाक्त बादलों से आच्छादित होकर निस्तब्ध श्मशान की तरह एक कोने में पड़ी अपने दुर्भाग्य का रोना रो रही होती।

अंतरिक्षविज्ञानी अपनी गहरी जाँच-पड़ताल से पृथ्वी और अंतरिक्ष के मध्य चले आ रहे आदान-प्रदान में विक्षेप व्यवधान देखते हैं। इसका कारण यही है कि युग-परिवर्तन प्रसव-पीड़ा जैसे होते हैं। उनमें समुद्र मंथन जैसी उलटी और सीधी दोनों विषमताएँ प्रचंड वेग से उभरती हैं। एक ओर प्रसूता को घोर कष्ट सहना पड़ता है दूसरी ओर गर्भस्थ शिशु बंधन से मुक्ति के लिए प्रयास करते हैं। प्रसूता पीड़ा सहती और शिशु जन्म की गुदगुदी सहती है। डॉक्टर ऑपरेशन करता है और उसके साथ ही घाव भरने का प्रबंध भी करता है। अधर्म के

नाश का उपचार ध्वंसात्मक है और धर्म की स्थापना सृजनात्मक युग संध्या में सदा ऐसी ही दोहरी प्रक्रिया संपन्न होती है।

यह युगसंधि की वेला है। परिवर्तन की घड़ियाँ सदा जटिल होती हैं। एक शासन हटता है और दूसरा आता है तो उस मध्यकाल में कई प्रकार की उलट-पुलट भी होती देखी गई है। गर्भस्थ बालक जब छोटी उदरदरी से बाहर निकलकर सुविस्तृत विश्व में प्रवेश करता है तो माता को प्रसव-पीड़ा सहनी पड़ती है और बच्चा जीवन-मरण से जूझने वाला पुरुषार्थ करता है। प्रभातकाल से पूर्व की घड़ियों में तमिस्रा चरम सीमा तक पहुँचती है। दीपक के बुझते समय बाती का उछलना-फुदकना देखते बनता है। मरणासन्न की साँसें इतनी तेजी से चलती हैं मानो वह नीरोग और बलिष्ठ बनने जा रहा है। चींटी के अंतिम दिन जब आते हैं, तब उसके पर उगते हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि परिवर्तन की घड़ियाँ असाधारण उलट-पुलट की होती हैं। उन दिनों अव्यवस्था फैलती, असुविधा होती और कई बार संकट-विग्रहों की घटा भी घुमड़ती है। युग-परिवर्तन की इस संधिवेला में भी ऐसा ही हो रहा है। असुरता जीवन-मरण की लड़ाई लड़ रही है और देवत्व को उसे पदच्युत करके सिंहासनारूढ़ होने में अनेक झंझटों का सामना करना पड़ रहा है। भूतकाल में भी ऐसे अवसरों पर यही दृश्य उपस्थित हुए हैं, ऐसे ही घटनाक्रम हुए हैं जैसे कि इन दिनों सामने हैं।

परिवर्तन की प्रक्रिया चल तो बहुत समय से रही है, पर उसकी आरंभिक मंदगति को द्रुतगामी बनने का अवसर इन्हीं दिनों मिला है। प्रकृति जब रुग्ण शरीर से विषाक्तता को निकाल बाहर करने के लिए अधिक तत्परता बरतती है तो कई प्रकार के उपद्रव उठ खड़े होते हैं। उलटी, दस्त, ज्वर आदि में रोगी को कष्ट तो अवश्य होता है, पर संचित मलों की सफाई इससे कम में हो भी नहीं सकती। रक्त में भरी विषाक्तता भी फोड़ा-फुन्सी बनकर बाहर आती और मवाद बनकर

विदा होती है। देखने में यह अरुचिकर लगता है, पर चिकित्सक यही कहते हैं कि घबराने की कोई बात नहीं। प्रकृति को अपना काम करने देना चाहिए, जो सफाई चिकित्सक मुद्दतों में नहीं कर सकते थे, वह उस उभार में कुछ ही दिन में संपन्न हो जाएगी। विषमज्वर के निष्क्रमण में ऐसा होता भी है। सेना भागते-भागते अपने क्षेत्र को नष्ट कर जाती है ताकि शत्रु के हाथ कोई सुविधाजनक परिस्थिति न लगे। लगता है कि सफाई के इन दिनों में ऐसी रणनीति चल रही है। लगता है कि नाली साफ करते समय उड़ने वाली बदबू की तरह इन दिनों जो असुखद घटित हो रहा है उसके पीछे सुखद संभावनाएँ भी झाँकती हैं।

प्रसव-पीड़ा में एक ओर प्रसूता को अत्यधिक कष्ट होता है दूसरी ओर नवजात शिशु के आगमन की कल्पना में हृदय भी हुलसता है। हर परिवर्तन ऐसे ही विग्रह करता है। कन्या ससुराल जाती है तो परिवार का विछोह कम व्यथित नहीं करता किंतु ससुराल में घर की रानी बनने का सपना उसे धैर्य भी बँधाता है और आश्वासन भी देता है। परिवर्तन की इस वेला में आगत कष्टों को इसी रूप में देखा जाना चाहिए।

अदृश्यदर्शियों के भविष्य दर्शन इन दिनों को अधिक त्रास-दायक बताते हैं। उनमें एक ओर दुष्प्रवृत्तियों की कष्टकारक दंड व्यवस्था अपनी चरम सीमा पर होगी तो दूसरी ओर नवसृजन के आधार भी खड़े होंगे। इन परस्पर विरोधी गतिविधियों से असमंजस तो होता है पर साथ ही यह जानकर समाधान भी मिलता है कि ऐसे समयों पर इस स्तर की दोहरी गतिविधियों का चलना अस्वाभाविक नहीं है। किसान हल चलाकर खेत के खर-पतवार और कंकड़-पत्थर हटाता है, साथ ही बीज बोने की तैयारी भी करता है। इनमें एक कार्य ध्वंसात्मक है दूसरा सृजनात्मक। दोनों के मध्य परस्पर विरोध देखा जा सकता है पर वस्तुतः वह पूरक भी तो होता है। डॉक्टर ऑपरेशन करने में जितनी कुशलता दिखाता है उतनी ही तत्परता घाव भरने के

उपक्रम में भी बरतता है। माता का दुलार और सुधार साथ-साथ चलता है। पतझड़ में पत्र-पुरातन पल्लव गिरते-झड़ते हैं साथ ही वसंत की हरीतिमा का पूर्वाभास भी होता है। सभी जानते हैं कि जराजीर्ण काया को त्यागते समय जीव दुःख पाता है पर नए जन्म का आनंद लेने की बात इसके बिना बनती भी तो नहीं है।

दूरदर्शियों के अनेक वर्ग हैं और उन सबने अपने-अपने ढंग से इस वर्ष की संधिवेला को दोहरी संभावनाओं से भरा-पूरा बताया है। निकट भविष्य में कष्ट और दूर भविष्य में सुखद की संभावना बताते हैं। अपने पक्ष के समर्थन में उनके दृष्टिकोण तो अलग-अलग हैं पर निष्कर्ष एक ही तथ्य पर जा पहुँचते हैं। सभी की यह मान्यता है कि कष्टकारक दिन समीप हैं। ऐसे पूर्व कथन हानिकारक भी होते हैं और लाभदायक भी।

हानिकारक उनके लिए जो डरते, घबराते और हड़बड़ी में चिंता-ग्रस्त, हतप्रभ और किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनते हैं। यह हड़बड़ी वास्तविक विपत्ति से अधिक हानिप्रद होती है। कहावत है कि जितने व्यक्ति मौत से मरते हैं उससे कहीं अधिक मरणभय से असंतुलित होकर बेमौत मरते हैं।

लाभदायक उनके लिए जो अशुभ संभावनाओं का पूर्वाभास पाकर अपनी जागरूकता बढ़ाते हैं। सूझ-बूझ से काम लेते और धैर्य-साहस को निखारते हैं। ऐसे पराक्रमी अपने कौशल को निखारने में इन संकट की घड़ियों को दैवी वरदान की तरह सहायक मानते हैं। विपत्तियों से जूझने के सत्परिणामों की जानकारी प्राप्त करनी हो तो उसका विस्तृत विवरण मोर्चे पर लड़ने वाले योद्धा, संयम की साधना करने वाले तपस्वी, संघर्षों से जूझकर महामानव बनने वाले परमार्थपरायण लोकसेवक ही भली प्रकार बता सकते हैं। वे एक स्वर से यही कहते पाए जाएँगे कि परीक्षा की घड़ी कठिन तो अवश्य थी पर तपने और कसने के उपरांत खरा सोना कहलाने का जो श्रेय मिल सका, वह उस

कष्टसाध्य-प्रक्रिया में होकर गुजरे बिना और किसी तरह उपलब्ध हो नहीं सकता था। संभव है विश्वमानव को इसी प्रकार से भट्ठी में गलाया और नए साँचे में ढाला जा रहा हो।

इन दिनों की अशुभ संभावनाओं के संबंध में खगोलविज्ञानी कहते हैं कि सूर्य पर इन्हीं दिनों भयंकर विस्फोट कलंक उभरने जा रहे हैं। उनकी ज्वालाएँ लाखों मील ऊँची लपकेंगी और असाधारण ऊर्जा अंतरिक्ष में फेंकेंगी। उनका प्रभाव पृथ्वी के पदार्थों और प्राणियों पर बुरा पड़ेगा। यह विघातक प्रक्रिया कई वर्ष तक चलती रहेगी। अंतरिक्षविज्ञानी अंतर्गृही परिस्थितियों के कारण धरती के वातावरण में तापमान बढ़ने और उससे संचित हिम-भंडार गलने की बात कहते हैं। उससे जल प्रलय जैसी घटनाएँ घटित हो सकती हैं। भूगोल का पर्यवेक्षण करने वाले बताते हैं कि यंत्रों से बढ़ते वायु प्रदूषण से अगले दिनों घुटन पैदा होगी। बढ़ता हुआ कोलाहल विक्षिप्तता उत्पन्न करेगा।

अणु विस्फोटों से उत्पन्न विषाक्त विकिरण से जीवनी शक्ति का भयानक ह्रास होगा। भूगर्भवेत्ता बताते हैं कि पेय जल, ईंधन तथा खनिज संपदा का जिस गति से दोहन हो रहा है, उसे देखते हुए इन जीवन साधनों से धरती के दिवालया हो जाने का खतरा है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के पर्यवेक्षक कहते हैं कि भय, लोभ और अविश्वास के तत्त्व शासनाध्यक्षों के मन में बुरी तरह घुस रहे हैं। फलतः तीसरे महायुद्ध की संभावना बढ़ रही है। अणु-आयुधों के बारूदखाने में एक चिनगारी पड़ने की देर है कि विस्फोट से धरती की स्थिति विषाक्त बादलों से भर जाएगी। फलतः प्राणियों का अस्तित्व इस रूप में नहीं बच सकेगा जैसा आज है।

नृतत्वविज्ञानी कहते हैं कि बढ़ती हुई जनसंख्या अपने समय की सबसे बड़ी समस्या है। कुछ दिनों में इस अनियंत्रित प्रजनन पर भूख, प्यास, युद्ध और महामारी की गाज गिरेगी और फलतः यह अवांछनीय

प्रजनन स्वयं तो मरेगा ही धरती की परिस्थितियों को भी इस योग्य न रहने देगा, जिसमें बचे-खुचे लोगों को निर्वाह मिल सके।

शरीरशास्त्री कहते हैं-लोगों की आदतें इस प्रकार बिगड़ रही हैं कि अभक्ष्य भक्षण, अचिंत्य चिंतन, अकृत्यों का अनुसरण जो प्रतिक्रिया उत्पन्न कर रहा है उसके फलस्वरूप स्वस्थ शरीर और स्वस्थ मन वाले व्यक्ति कहीं ढूँढ़ने पर भी नहीं मिल सकेंगे। दुर्बलता और विक्षिप्तता का दौर इस प्रकार बढ़ेगा कि चिकित्सकों से उस व्यापक पतन की रोकथाम संभव न हो सकेगी।

समाजवेत्ता कहते हैं कि स्वार्थपरता, संग्रह, विलास और उपयोग की लिप्सा पारस्परिक स्नेह-सहयोग की उन परंपराओं को नष्ट करके रहेगी जिसके आधार पर मानवी विकास संभव हुआ है। अनुशासन की अवहेलना, उच्छृंखलता में गर्व, अपराधों पर अनियंत्रण की स्थिति जिस क्रम से बढ़ रही है, उससे समाज संस्था में आदर्श नाम की कोई चीज बच नहीं पाएगी। लोग भूखे भेड़ियों की तरह एक-दूसरे पर घात-प्रतिघात लगाते और यादवी आत्मघात के शिकार बनते पाए जाएँगे।

यह सभी संभावनाएँ उन मूर्द्धन्य लोगों ने व्यक्त की हैं जिनके निष्कर्ष तथ्यपूर्ण और प्रामाणिक माने जाते हैं। इन समस्याओं के रहते भविष्य अंधकारमय लगता है। जिनके हाथ में भाग्य निर्धारण की शक्ति है, वे पारस्परिक अविश्वास के वातावरण में रह रहे हैं और ऐसा कुछ कर नहीं पा रहे हैं कि विनाश के प्रवाह को रोकने और विकास के ठोस आधार खड़े करने में सफल हो सकें। वे भी चिंतित और निराश दीखते हैं। दो हाथ जोड़ने का प्रयत्न करने पर रस्सी चार हाथ अन्यत्र से टूटने लगे तो प्रयत्नकर्त्ताओं को भी हार मानते देखा जाता है।

अदृश्यदर्शियों के अनुमान भी इस विपन्नता की ही पुष्टि करते हैं। फलतः ज्योतिष के अनुसार इन्हीं दिनों छह ग्रहों के एक पंक्ति में आने की 'युति' जनजीवन के लिए हानिकारक परिस्थितियाँ उत्पन्न

करती हैं। १६ फरवरी १९८० का सूर्यग्रहण समस्त संसार में चर्चा का विषय बना हुआ है। वह पूर्ण खग्रास था। ऐसा खग्रास जिसमें दिन में तारे दीखने लगे। उत्तर भारत में तो वह खंड खग्रास ही दिखाई पड़ा पर उसका समग्र स्वरूप ऐसा बताया गया जो पिछले आठ सौ वर्षों में प्रथम बार प्रस्तुत हुआ है। उसकी प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करके वैज्ञानिकों ने निष्कर्ष निकालते हुए बतलाया कि इस ग्रहण का परिणाम अत्यंत ही चिंताजनक है।

संसार में ऐसे अतींद्रिय क्षमता संपन्न भविष्यवक्ता भी यदा-कदा देखने-सुनने में आते हैं जिनके कथन सुनिश्चित माने जाते हैं। जो कथन अब तक सही सिद्ध हो चुके वे ही यह बताते हैं कि इनके द्वारा कही गई बातें भविष्य में भी सच हो सकती हैं। इस स्तर के सूक्ष्मदर्शियों की भविष्यवाणियों में निकट भविष्य को कष्टकारक माना गया है। मनुष्यकृत उपद्रवों के अतिरिक्त दैवी प्रकोपों की संभावना भी व्यक्त की गई है।

अध्यात्मवेत्ता कहते हैं कि समस्त मनुष्य समाज एक शरीर की तरह है और उसके घटकों को सुख-दु:ख में सहयोगी रहना पड़ता है। एक नाव में बैठने वाले साथ-साथ डूबते पार होते हैं। मानवी चिंतन और चरित्र यदि निकृष्टता के प्रवाह में बहेगा तो उसकी अवांछनीय प्रतिक्रिया सूक्ष्मजगत में विषाक्त-विक्षोभ उत्पन्न करेगी और प्राकृतिक विपत्तियों के रूप में प्रकृति प्रताड़ना बरसेगी। चित्र-विचित्र स्तर के दैवी प्रकोप संकटों और त्रासों से जनजीवन को अस्त-व्यस्त करके रख देंगे। हर व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि अपनी सज्जनता तक ही सीमित न रहे वरन आगे बढ़कर संपर्क क्षेत्रों की अवांछनीयता से जूझे। जो इस समूह धर्म की अवहेलना करता है, वह भी विश्व-व्यवस्था की अदालत में अपराधी माना जाता है। सामूहिक कर दंडों की तरह निर्दोषी समझे जाने वालों को भी त्रास सहना पड़ता है। गेहूँ के साथ घुन पिसता है, सूखे के साथ गीला जलता है, जैसी उक्तियाँ इस अर्थ

में सच हैं कि सामूहिक उत्तरदायित्वों की अवहेलना व्यापक विपत्तियों का नियमित कारण बनती है।

सूर्य का पृथ्वी से सीधा संबंध है और उसी का प्रभाव विशेष रूप से धरती के वातावरण को प्रभावित करता है। पर इस बार वृहस्पति ग्रह में भी विलक्षण प्रकार की उत्तेजनाएँ उत्पन्न हो रही हैं और उनका सीधा प्रभाव अपनी धरती पर भी पहुँचने की संभावना है। सूर्य स्पॉट और वृहस्पति के विकिरण का प्रभाव कोढ़ में खाज की तरह दोहरी विपत्ति का निमित्त बन सकता है।

प्रतिपादनों की एक संगति यह भी बैठती है कि युग-परिवर्तन की संधिवेला आ गई। उसमें ऐसी उलट-पुलट होनी स्वाभाविक है। असुरता अपना स्थान छोड़ते-छोड़ते जीवन-मरण की लड़ाई लड़ेगी। देवत्व को भी इन्ही दिनों सत्तारूढ़ होना है। इसलिए प्राचीनकाल के देवासुर संग्राम की तरह इन दिनों में व्यापक विग्रह दृष्टिगोचर हों और उससे सामान्य जन जीवन में अस्त-व्यस्तता उत्पन्न हो तो उसे अप्रत्याशित नहीं माना जाना चाहिए।

इन दिनों कष्टकर स्थिति कम नहीं, वे आगे और बढ़ती दीखती हैं। मनुष्यकृत दुष्कर्मों की प्रतिक्रिया दैवी प्रकोपों का रूप धारण करके सामने आ रही है। उसकी पीड़ा और भी अधिक दीखती है। डॉक्टर का चाकू चलने से काम पूरा नहीं होता वह फोड़े के इर्द-गिर्द दबाकर मवाद निकालता है। लगता है वर्तमान विपन्नताएँ अगले दिनों कुछ और अधिक कष्टकारक होंगी। इसका पूर्वाभास इन दिनों कितने ही झरोखों से देखने को मिल रहा है। ग्रहण की उलट-पुलट के पीछे अंतरिक्षविज्ञानी दैवी प्रकोपों की एक श्रृंखला उभरती देखते हैं। इन्हीं दिनों उभरने वाले सूर्य कलंक खगोलवेत्ताओं के लिए चिंता के विषय बने हुए हैं और वे इसकी प्रतिक्रिया धरती निवासियों के लिए कष्टकारक होने का अनुमान लगाते हैं। वृहस्पति ग्रह की अगले दिनों विशेष स्थिति होगी। उसके द्वारा उगली ऊर्जा से अपनी धरती की

आंतरिक क्षति पहुँचने में भी आशंका है। फलित ज्योतिष के अनुसार १६ फरवरी, १९८० को पड़ा हुआ सूर्यग्रहण असाधारण है। वैसा कुयोग पिछले आठ सौ साल बाद आया बताया गया है। छह ग्रहों के एक पंक्ति में होने की 'युति' भी उनके कथनानुसार धरतीवासियों के लिए संकटापन्न स्थिति उत्पन्न करेगी। यह ग्रह-नक्षत्रों की बात हुई।

भौतिकविज्ञानी बढ़ते हुए प्रदूषण और तापमान को भावी विनाश की पूर्व भूमिका बताते हैं। सांख्यिकी के विशेषज्ञ बताते हैं कि तूफानी गति से बढ़ती हुई जनसंख्या से भुखमरी, महामारी और बेकारी के चरम सीमा तक जा पहुँचने का संकट प्रत्यक्ष है। भूविज्ञानी कहते हैं पेड़, जल, ईंधन एवं खनिज संपदा का संचित भंडार चुकता जा रहा है। इनके अभाव से मनुष्यों को अगले दिनों आदिम परिस्थितियों की ओर लौटना और वन्य जीवन बिताना होगा। दिन-दिन उलझती अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के पर्यवेक्षक कहते हैं कि विघातक आयुओं का उपयोग कभी भी हो सकता है और उसकी परिणति किसी देश की हार-जीत के रूप में नहीं महाविनाश बनकर ही सामने आएगी। तब इस धरती पर जहाँ-तहाँ वन्य जीवन ही क्षत-विक्षत रूप में शेष रह जाएगा। अदृश्यदर्शी कहते हैं कि मानवी दुष्कृतों ने सूक्ष्मजगत के वातावरण को विक्षुब्ध करके रख दिया है फलतः प्रकृति-प्रकोपों का जो सिलसिला चल पड़ा है उसमें अगले दिनों बढ़ोत्तरी ही होगी।

समाजविज्ञानी इन विपत्तियों को मनुष्यों के द्वारा सामूहिक कर्त्तव्यों की अवहेलना से उत्पन्न प्रतिक्रिया बताते हैं। उनका कथन है कि समस्त मानव समुदाय एक शरीर के विभिन्न घटकों की तरह सघन सूत्र शृंखला में बँधा है। एक नाव में बैठे लोग जिस प्रकार साथ-साथ डूबते-उतरते हैं, उसी प्रकार कुछ के कृत्यों का दंड सब को भुगतना पड़ता है। पड़ोसी के घर का अग्निकांड न रोकने पर अपना घर भी जलेगा। पड़ोसी पर हुए गुंडों के आक्रमण को न रोकने का प्रतिफल वह संकट अगले दिन अपने ऊपर टूट पड़ने के रूप में सामने आएगा।

उपद्रवग्रस्त क्षेत्रों पर सरकार सामूहिक कर दंड लगाती है। उसका कथन है कि व्यक्ति को अपनी सुरक्षा सज्जनता तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए वरन पड़ोस की देखभाल का संयुक्त उत्तरदायित्व भी सँभालना चाहिए। जो नहीं सँभालते अपने मतलब से मतलब रखते हैं उन्हें सामाजिक दृष्टि से अपराधी ही ठहराया जाएगा। प्रकृति-प्रकोपों में सूखे के साथ गीला जलने, गेहूँ के साथ घुन पिसने की कहावत इसी आधार पर चरितार्थ होती है। वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए प्रकृति-प्रकोपों में सामाजिक कारणों से विपत्ति बढ़ने की संभावना व्यक्त की जाती है। न्यायशास्त्री प्रस्तुत संकटों के पीछे स्रष्टा की परोक्ष न्याय व्यवस्था द्वारा प्रस्तुत किया गया दंड विधान प्रयुक्त होते देखते हैं।

प्रत्यक्षदर्शी उपर्युक्त प्रतिपादनों में से क्या सही क्या गलत होने के संबंध में निश्चित न होने पर भी परिस्थितियों का मूल्यांकन करते हैं और कम्प्यूटर स्तर पर संभावनाओं का निष्कर्ष निकालते हैं तो अगले दिन कठिनाइयों से भरे हुए ही दीखते हैं। अतींद्रिय क्षमता संपन्न व्यक्ति पिछले दिनों जिन भविष्यवाणियों को प्रकट करते रहे हैं उनके अनुसार अगला समय विपत्तियों से भरा हुआ ही होना चाहिए। व्यवसायी भविष्यवक्ता तो ऐसे ही तीरतुक्का छोड़ते रहते हैं, पर कभी-कभी अतींद्रिय क्षमता संपन्न व्यक्तियों का भविष्य दर्शन इतना सही होता है कि उसे देखते हुए चकित रह जाना पड़ता है। संसार में ऐसे लोग कभी-कभी कुछ ही कहीं पाए जाते हैं। इनमें से अधिकांश की अभिव्यक्ति ऐसी है जो अपने समय के साथ अशुभ संभावनाओं से जुड़े होने की जानकारी देती हैं।

इतने पर भी हममें से किसी को भी न तो डरना है और न अपना संतुलन बिगाड़ना है। हड़बड़ी विपत्ति को घटाती नहीं वरन कई गुना बढ़ा देती है। परिस्थितियों की विषमता का यदि पूर्वाभास होता है तो उसका सदुपयोग एक ही है कि अधिक सावधानी बरती जाए, सुरक्षा

पर अधिक ध्यान दिया जाए और आशंकाओं को निरस्त करने के लिए अधिक सूझ-बूझ का, अधिक साहस और पराक्रम का उपयोग किया जाए। इस सतर्कता और तत्परता से लाभ ही लाभ है। विपत्ति न आवे तो जागरूकता एवं तत्परता की अभिवृद्धि का सत्परिणाम तो निश्चित रूप से होगा ही।

समग्र पर्यवेक्षण से इस निष्कर्ष पर पहुँचना ही पड़ता है कि इन दिनों जिन विषम परिस्थितियों में रहना पड़ रहा है और गतिचक्र जिस गति से अवांछनीयता की दिशा में अग्रगामी बन रहा है, उसका परिणाम विपत्तियों के अधिक बढ़ने और भविष्य के अंधकारमय होने के रूप में ही सामने आ सकता है। इस चिंतन के साथ ही दूसरा पक्ष भी सामने आता है कि स्रष्टा ने इस धरती को समस्त ब्रह्मांड में अपने ढंग की अनोखी बनाया है। साथ ही प्राणिजगत में मनुष्य की संरचना भी ऐसे ही विलक्षण तत्त्वों से की है जिसे अनुपम ही कहा जा सकता है। इस उद्यान की संरचना में कलाकार ने अपनी समस्त कलाकारिता बाजी पर लगा दी है। उसका इस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट हो जाना उसे सहज स्वीकार नहीं हो सकता। यही कारण है कि उसने लोक-व्यवस्था का सामान्य उत्तरदायित्व मनुष्य के हाथ में सौंपते हुए भी यह भार अपने ही कंधों पर रखा है कि जब भी असंतुलन सँभालते न बनेगा तो वह स्वयं अपने विशिष्ट प्रयासों से उस अव्यवस्था पर स्वयं नियंत्रण करेगा। मंत्रिमंडल के असफल रहने पर राष्ट्रपति के शासन जैसी आपत्तिकालीन स्थिति को अवतार कहा जा सकता है। इन दिनों उसी की पूरी-पूरी संभावना है।

कहा जा चुका है कि परिस्थितियाँ इतनी जटिल हो चुकी हैं कि मनुष्य के सीमित प्रयास उनका समाधान नहीं कर सकते। उसके लिए सर्वसमर्थ ईश्वरीय सत्ता का हस्तक्षेप अनिवार्य हो गया है।

मनुष्य सीमित है और भगवान असीम। सीमित स्तर की समस्याएँ हल करने और साधन जुटाने में ही मनुष्य सफल हो सकता है। उसकी

शक्ति, सूझ-बूझ, साधन-सामग्री और पहुँच स्वल्प है, इसलिए वह अपनी सामर्थ्य के अनुरूप ही कर्म कर सकता है। भगवान व्यापक है इसलिए ऐसी समस्याएँ जो समस्त भूमंडल के समस्त मनुष्यों और उससे संबद्ध प्राणियों तथा पदार्थों को प्रभावित करती हैं, समाधान के लिए भगवान पर ही निर्भर करती हैं। परिस्थिति अनुकूल हो तो ही मनुष्य कुछ कहने लायक सफलताएँ प्राप्त कर सकता है अन्यथा सुयोग्य व्यक्तियों का समर्थ पुरुषार्थ भी एक कोने पर रखा रह जाता है और प्रतिकूलताएँ सब कुछ उलट-पुलट कर देती हैं और सारे मनोरथ भी एक कोने पर रखे रह जाते हैं। परिस्थितियों को अनुकूल बनाना मनुष्य के अपने हाथ में नहीं है। उसका सुयोग अदृश्य शक्ति ने अपने हाथ में रखा है। अतएव युग समस्याओं के समाधान जैसे महान कार्यों के लिए उस परमसत्ता की ही प्रधान भूमिका रहती है।

इतिहास साक्षी है कि व्यापक असंतुलन को स्रष्टा ने स्वयं ही सँभाला है। अवतार लेकर उसी ने समस्याएँ सुलझाई हैं। चौबीस अवतारों की कथा-गाथाएँ एक ही तथ्य का निरूपण करती हैं कि अनौचित्य के तूफान को रोकने के लिए औचित्य की नए सिरे से प्राण प्रतिष्ठापना करने के लिए समय-समय पर दिव्यलोक से कोई प्रवाह उतरा है और उसने वातावरण में ऐसी प्रखरता उत्पन्न की है कि अधर्म का नाश और धर्म का संस्थापन जो इन विकट परिस्थितियों में नितांत कठिन दीखता है, जादुई अनुकूलता बदलने और प्रवाह पलटने में सहज ही संभव हो गया।

सृष्टि के आदि से लेकर अब तक के लंबे इतिहास पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि जिन परिस्थितियों में भगवान को अवतार लेने पड़े हैं, उन सभी संकट वेलाओं की तुलना में आज की परिस्थितियाँ सबसे अधिक विकट हैं। अन्य अवसरों पर समस्याएँ क्षेत्रीय थीं। कुछ ही मनुष्य सिरदरद बने हुए थे। कुछ क्षेत्रों में ही विभूतियाँ भरी थीं, पर

आज की स्थिति भिन्न है। दुनिया सिकुड़कर बहुत छोटी हो गई है। फलतः अवांछनीयताओं का क्षेत्र भी बढ़ा है और संकट भी। इन दिनों भी विश्वसंकट सामने है। खतरा समस्त मानव जाति को और युगों-युगों की संचित संस्कृति को है। एक ही विस्फोट सब कुछ तहस-नहस करके रख सकता है। विस्फोट वैज्ञानिक आयुधों का ही नहीं है, मानवी चिंतन और चरित्र पर छाई हुई असुरता, उच्छृंखलता का है जो किसी को भी चैन से नहीं रहने दे रही है। हर किसी के लिए त्रास उत्पन्न कर रही है सुलझाने वाले दो गज जोड़ते हैं तो चार गज टूटती है। मूर्द्धन्य भी हतप्रभ और किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं। अन्न संकट का हल निकल सकता है किंतु विपत्तियों के मूल आस्था संकट की व्यापकता और भयानकता को देखते हुए उस वृत्रासुर से जूझने का साहस कौन करे?

इन परिस्थितियों में स्रष्टा का वह आश्वासन ही आशा का केंद्रबिंदु हो सकता है, जिसमें उसने विषम वेला में स्वयं उत्तरदायित्व सँभालने का सुनिश्चित वचन दिया था। आज मानवी मस्तिष्क विनाश के कगार पर खड़ा है—आज परिवर्तन और संतुलन की विकट प्यास है उसे कौन पूरा करे ? निश्चित रूप से इतना बड़ा काम उसी के द्वारा हो सकेगा जिसने इस विराट ब्रह्मांड की रचना की है और उसके गतिशील रहने की सुनिश्चित व्यवस्था बताई है। द्रौपदी और गज की पुकार सुनकर बिना अवसर गँवाए जिस सृजेता ने संकट से उबारा था उसे आज की संकटापन्न स्थिति का भी ज्ञान है और वह विभीषिकाओं से जूझने, अपने आयुधों को सँभालने और चल पड़ने की तैयारी पूरी कर रहा है।

अपने युग की परिस्थितियाँ अपने ढंग की अनोखी हैं। इनमें न तो कंस एवं रावण की तरह आक्रमण उत्पीड़न हैं और न दुर्भिक्ष, दुर्घटना जैसा कोई दैवी संकट। फिर भी स्थिति की विपन्नता ऐतिहासिक

महासंकटों की तुलना में कहीं अधिक भयानक है। विपत्ति का नया स्वरूप–आस्था संकट ने, मानवी मान्यताओं ने जड़ जमा ली है जिन्हें आदर्शों के प्रति अनास्था कह सकते हैं। संकीर्ण स्वार्थपरता पर आधारित विलासी अहंमन्यता ही आज जन–जन की आराध्य बन गई है। लोभ और मोह की ललक दावानल की तरह बढ़ रही है और अपनी लपटों में उस सबको लपेट रही है जिसे मानवी गरिमा के रूप में देखा और जाना जाता रहा है।

इन परिस्थितियों को मनुष्यकृत सामान्य प्रयत्न कदाचित ही सँभाल सकते हैं। प्रगति के लिए प्रयत्नशील नेतृत्व ने हर मोर्चे पर असफलता अनुभव की है और निराशा व्यक्त की है। ऐसे असंतुलन को संतुलन में बदलने का महान कार्य स्रष्टा की सूक्ष्म चेतना और दिव्य प्रेरणा ही संपन्न कर सकती है। यही कार्य इन दिनों हो रहा है। समय की आवश्यकता के अनुरूप महाकाल की प्रचंड हलचलें युग अवतार का उद्देश्य पूरा करने के लिए क्रमशः अधिकाधिक प्रखर होती चली जा रही हैं।

अपने युग का महादैत्य आस्था संकट है। वह जनमानस की गहरी परतों तक प्रवेश पाने में सफल हो गया है। इतनी गहराई तक भौतिक उपाय–उपचारों का प्रवेश नहीं हो सकता। दलदल में धँसे हाथी को चतुर हाथी ही अपनी बुद्धिमत्ता के सहारे बाहर निकाल पाते हैं। अनास्था के निराकरण में भावश्रद्धा की प्रखरता ही समर्थ हो सकती है। इसलिए इस बार युग अवतार ब्राह्मी प्रज्ञा के रूप में हो रहा है।

❐

नवयुग अवतरण में जाग्रत आत्माओं की भूमिका

भगवान निराकार है। उसका कर्तृत्व प्रेरणाओं तक ही सीमित रहता है। उन्हें क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व देवमानवों के कंधों पर आता है। युद्ध में योद्धा का पराक्रम और साहस ही जीतता है, पर प्रत्यक्षतः लड़ाई तो हथियारों से होती है, भले ही वे लोहे जैसी सस्ती धातु के ही क्यों न बने हों ? शास्त्र गहन अध्ययन के आधार पर लिखे जाते हैं, पर वह कृत्य तो उँगलियों के सहारे कागज-कलम की सहायता से ही होता है। रोगी की प्राणरक्षा चिकित्सक का कला-कौशल एवं अनुभव करता है, पर प्रत्यक्षतः तो दवा के रूप में कुछ रसायनों का ही प्रयोग होता है। चित्र कलाकार की प्रतिभावना तो है, पर प्रत्यक्षतः तो रंग योजना एवं कागज का ही प्रयोग होता है। वक्ता भीतर रहता है, परंतु अभिव्यक्ति का प्रकटीकरण जीभ करती है। भगवान निराकार है इसलिए उनका वर्चस्व प्रेरणाओं तक ही सीमित है। उसका कार्यान्वयन देवमानवों को भूतकाल में भी करना पड़ा है और अब भी वही होना है।

भगवान जन्म-मरण से रहित है किंतु अवतार जन्मे भी और मरे भी। इसलिए उनकी गणना देवमानवों में की गई। देव इन अर्थों में कि उनका चिंतन और चरित्र, चरित्र और कर्तृत्व महान था। लोग तो लोभ और मोह के वशीभूत होकर नर-पशुओं का सा जीवन जीते हैं। उत्कृष्टता ही अलौकिकता है और इसी अलौकिकता का नाम देवत्व है। महामानव तो धरती के देवता हैं। देव आदर्श हैं और मानव क्रिया समुच्चय है। दोनों का सम्मिलित स्वरूप देवमानव है। उन्हीं को प्रकारांतर से अवतारी कहते हैं। सूर्य की स्वर्णिम किरणों का दिव्य दर्शन सर्वप्रथम पर्वत-शिखरों पर होता है। ऊषा की अरुणिमा धरती को आश्वासन देती है कि आलोक के अवतरण में अब देर नहीं। उसे अवतार की झाँकी भी कह सकते हैं।

युग-परिवर्तन की अवतारी प्रक्रिया का सर्वाधिक महत्त्व का कार्य यह है कि उसकी दिव्यता का संवहन करने में समर्थ कुछ आत्माएँ अग्रदूतों की तरह धरती पर आती हैं और भावी गतिविधियों की पृष्ठभूमि बनाती हैं। जिस क्षेत्र में सेना प्रयाण करती है उसके रास्ते साफ करने के लिए इंजीनियर आगे-आगे चलते हैं। दफ्तरों और कारखानों में तो काम विज्ञजन करते हैं, पर उसका निर्माण कारीगरों द्वारा होता है। शासनाध्यक्षों के आगे-आगे पायलेट चलते हैं। जलूस में झंडाधारी आगे चलते हैं। हर अवतरण के साथ अग्रगामियों की युग-दूतों की, एक बड़ी सेना होती है। उनका बाह्य स्वरूप भले ही सामान्य हो, पर वे भीतर से असामान्य होते हैं। सामान्य जनों को तो पेट पालने और संतति जनने के कुचक्र से आगे बढ़ने की न इच्छा होती है और न हिम्मत किंतु असामान्यों पर कुछ दूसरा ही नशा छाया रहता है। उनका चिंतन और कर्तृत्व इतना ऊँचा होता है, जिसकी सामान्यों के साथ कोई संगति नहीं बैठती। एक पाताल में धँसता है, दूसरा आसमान में उड़ता है। देव मानवों का अस्तित्व यों तो आदर्शवादियों के रूप में सदा ही बना रहता है, पर युग अवतरण के समय उनके दिव्य दर्शन सुलभ होते हैं। रामावतार के रीछ-वानर, कृष्णावतार के ग्वाल-बाल, बुद्ध के भिक्षु, गांधी के सत्याग्रही परिस्थिति से सामान्य और मनःस्थिति से महान थे। उनके पौरुष का प्रथम परिचय इस रूप में उभरा कि लोक-प्रवाह में बहने से उनने इनकार कर दिया। भले ही वह उपहासास्पद बने किंतु कष्टकर सेवा-साधना स्वीकार करने और विषमताओं से जूझने की तपश्चर्या में उन्हें तनिक भी कठिनाई प्रतीत नहीं हुई। जबकि सामान्य लोगों के लिए भीतरी और बाहरी दबाव आकर्षणों से बच निकलना दुस्तर ही नहीं, असंभव जैसा लगता है। युग-परिवर्तन जैसा महत्कार्य ऐसे अंतरंग सामर्थ्यवानों के बल पर ही संभव है। यह प्रयास केवल आत्मशक्ति संपन्न व्यक्ति ही कुशलतापूर्वक संपन्न कर सकते हैं। स्मरण रखा जाना चाहिए कि व्यक्ति वही कुछ नहीं है जो वह बाहर से स्थूल रूप में दिखाई देता है, बल्कि उसकी मूल सत्ता तो उसकी चेतना है, जहाँ आस्थाओं की जड़ें विद्यमान रहती

हैं, निष्ठाओं के बीज जड़ें, पोषण और अंकुरण को प्राप्त करते हैं। आस्थाओं का शोधन और निष्ठाओं का परिष्कार किए बिना सुधार के सभी प्रयास व्यर्थ जाते हैं।

आस्थाओं का परिष्कार ही नव-निर्माण का मूल आधार है और यह कार्य आत्मशक्ति संपन्न व्यक्तियों द्वारा ही किया जाना संभव है। शरीरबल, बुद्धिबल, धनबल, मनोबल का अपना महत्त्व है परंतु उनके उपयोग की दिशा भी व्यक्ति की चेतना पर निर्भर करती है। व्यक्ति की चेतना यदि निकृष्ट स्तर की है तो वह इन बलों का प्रयोग कर अपना व समाज का भारी अहित ही करेगा। बाहर से लाख प्रतिबंध लगाए जाने पर भी उसके प्रयासों को रोक पाना आसान नहीं होगा। यदि रोक भी दिया गया तो वह बल बिना उपयोग में आई संपत्ति की तरह व्यर्थ पड़ा रहेगा। इसके विपरीत यदि परिष्कृत चेतना द्वारा इन साधनों का उपयोग किया जाए तो उसके सभी पक्षों में सत्परिणाम प्रस्तुत हो सकते हैं।

आत्मशक्ति के द्वारा मनुष्य की व्यष्टिगत और समष्टिगत चेतना को परिष्कृत करके जिस नए युग के अवतरण की चर्चा इन पंक्तियों में की जा रही है, उसे यदि एकसूत्र में व्याख्यायित किया जाना हो तो वह सूत्र होगा-'मनुष्य में देवत्व का उदय और धरती पर स्वर्ग का अवतरण।' इस लक्ष्य को प्राप्त करने-स्वप्न को साकार करने का मार्गदर्शन गायत्री के प्रत्येक अक्षर में निहित है।

गायत्री को गुरुमंत्र कहा जाता है। गुरुतत्त्व द्वारा मिलने वाली श्रद्धा, प्रेरणा, भाव-संवेदना एवं अनुशासन का प्रकाश गायत्री मंत्र में सन्निहित है। इसलिए गायत्री को गुरुमंत्र कहा गया है। कितने ही मंत्र हैं-वैदिक, पौराणिक, तांत्रिक। मंत्रों की संख्या का ठीक-ठीक अनुमान भी लगा पाना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में गायत्री को ही गुरुमंत्र क्यों कहा गया? यह विचारणीय हो सकता है। भारतीय संस्कृति में गुरु की व्याख्या करते हुए उसके दो महत्त्वपूर्ण कार्य बताए गए हैं एक-ज्ञानवर्द्धन और दूसरा-अशुभ निवारण। गायत्री की शक्ति के भी दो पक्ष हैं-पहला सृजनात्मक और दूसरा विध्वंसात्मक। गायत्री की सृजनात्मक

शक्ति को ब्रह्मविद्या कहा जाता है और विध्वंसात्मक शक्ति को ब्रह्मास्त्र। साधक की तुलना राजहंस से की जाती है जिस पर आरूढ़ गायत्री साधक का कल्याण करती है और दुखदायी विघ्नों का निवारण करती है।

इसी शक्ति की चर्चा जब युगशक्ति के अवतरण संदर्भ में की जाती है तो (१) परित्राणाय साधूनां और (२) विनाशायचदुष्कृताम् की अवतार प्रतिज्ञा पूरी होती है। सृजन और ध्वंस एक सम्मिलित पूरक प्रक्रिया है। नया कुछ निर्माण करना हो तो पुराने को हटाना पड़ता है, खेत में फसल उगाना हो तो पहले जमीन पर उगी हुई खर-पतवार उखाड़नी पड़ती है, कपड़े को रँगने के लिए पहले धुलाई कर उस पर जमा मैल साफ करना पड़ता है। किसी भी क्षेत्र में निर्माण कार्य तभी पूरा होता है, जब वहाँ उपस्थित कूड़ा-कबाड़ा, गंदगी, मलिनता और कषाय-कल्मष हटाए जाएँ।

भारतीय शास्त्रों में जिन २४ अवतारों का उल्लेख आता है उनकी यही क्रियापद्धति रही-अधर्म, अनीति और आतंक का निवारण और धर्म, नीति, सत्प्रवृत्तियों का प्रोत्साहन अभिवर्द्धन। इस संदर्भ में एक बात और उल्लेखनीय है-अवतारों की संख्या २४ ही क्यों गिनी जाती है? जबकि समय-समय पर कितनी विभूतियाँ अवतरित होती रहीं और अपनी निर्माण-प्रक्रिया को पूर्ण करती रहीं। इस संख्या में नाम या क्षेत्र विशेष का महत्त्व नहीं है। वस्तुतः संकेत युगशक्ति के रूप में अवतरित होती रहने वाली गायत्री महाशक्ति की ओर है। उसे नाम और रूप भले ही चाहे जो दिया जाता रहा हो।

गायत्री के २४ अक्षरों में वे सभी सिद्धांत सूत्र रूप में सन्निहित हैं जिनके आधार पर युगांतरकारी परिवर्तन प्रस्तुत होते हैं। ईश्वरीय शक्ति का अवतरण प्राकट्य हर ऐसे संधिकाल में होता है, जब परिवर्तन के अलावा कोई उपाय नहीं रह जाता। उसके स्वरूप और क्रिया-कलाप में हेर-फेर अवश्य होता रहता है। हिरण्याक्ष राक्षस जब धरती को समुद्र में ले जाकर छिप गया तो भगवान को बाराह का रूप धारण करना पड़ा। हिरण्यकशिपु को वरदान था कि वह न मनुष्य से मारा जा सकेगा और न पशु से, न घर में मारा जा सकेगा और न बाहर, न मल्ल

युद्ध में मारा जा सकेगा न शस्त्र युद्ध में। इसलिए भगवान को मनुष्य और सिंह का सम्मिलित रूप धारण कर देहरी में नखों को शस्त्र की तरह उपयोग कर हिरण्यकशिपु का संहार करना पड़ा। इसी प्रकार आततताइयों का संहार करने के लिए परशुराम, मर्यादा की स्थापना के लिए राम, योग का कर्म प्रधान रूप प्रस्तुत करने के लिए कृष्ण और बौद्धिक क्रांति के लिए बुद्ध को अवतरित होना पड़ा। इस अवतरण प्रक्रिया में कहीं भी जड़ता नहीं है, अधर्म का विनाश और धर्म की स्थापना ही प्रधान लक्ष्य रहा है।

आज की परिस्थितियाँ भिन्न हैं। पहले असुरता सीधे आक्रमण करती थी और समाज व्यवस्था को अस्त-व्यस्त, तहस-नहस करती थी। आज असुरता ने छद्म आक्रमण की नीति अपनाई और वह जनमानस में विकृतियाँ उत्पन्न कर रही है। आदर्शों और मर्यादाओं की अवज्ञा इस व्यापक स्तर पर होने लगी है कि उनके लिए कटिबद्ध व्यक्ति अपवाद बनते चले जा रहे हैं। ईश्वर के अस्तित्व को मानने और देवस्थानों पर प्रतिमा के सामने सिर झुकाने वालों का अभाव नहीं है। अभाव है उन व्यक्तियों का जिन्हें सच्चे अर्थों में आस्तिक कहा जा सके। ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करने वाला उतना नास्तिक नहीं है, जितना कि उसे मानते हुए भी आदर्शों और मर्यादाओं की अवज्ञा करने वाला। फलतः इन दिनों चारों ओर जितने भी संकट, जितनी भी समस्याएँ दिखाई देती हैं, उनके मूल को खोजें तो विदित होगा कि आज का संकट आस्थाओं का संकट है।

इस बार नवयुग की, युग गायत्री की अवतरण प्रक्रिया भी असुरता के उन्मूलन और देवत्व के उदय के सनातन उद्देश्य से पूर्ण है। परिस्थितियों के अनुरूप उस चेतना के उदय हेतु प्रयासों का स्वरूप भी भिन्न होगा। अवांछनीयता, असुरता को निरस्त करने का यह धर्म युद्ध धर्मक्षेत्र में, अंतःकरण की गहराई में उतरकर लड़ा जाना है और जनमानस के परिष्कार द्वारा आस्थाओं के परिशोधन द्वारा नवयुग के निर्माण में ग्वाल-वालों की रीछ-वानरों की भूमिका निभाने के लिए हर जागरूक व्यक्ति को आगे आना है।

नैष्ठिक साधना की आवश्यकता

बार-बार यह दोहराने की आवश्यकता नहीं है कि यह युग परिवर्तन की संधिवेला है। व्यक्ति और समाज को पतन-पराभव के गर्त में धकेलने वाली दुर्बुद्धि का अंत होने जा रहा है। सृजनात्मक सत्प्रवृत्तियों का उषाकाल निकट है। उज्ज्वल भविष्य के अरुणोदय में विलंब नहीं। इतने पर भी इस संकट की संभावना है कि चलते-चलाते आसुरी दुष्प्रवृत्तियाँ अपना आक्रमण तीव्र करें।

बुझते हुए दीपक की लौ ऊँची उठती है। हारा जुआरी बढ़-चढ़कर बाजी लगाता है और 'मरता सो क्या न करता' की उक्ति चरितार्थ करने में असुरता अधिक आक्रामक बनती है। युगसंधि की इस वेला में इस प्रकार उथल-पुथल संभावित है। वायु, जल और आहार में प्रवेश करती हुई विषाक्तता एक संकट है। बढ़ती हुई जनसंख्या, अणु-आयुधों और विस्फोटों की भरमार, मानवी चिंतन और चरित्र में निकृष्टता का असाधारण समावेश, अंतर्गृही परिस्थितियाँ एवं क्रुद्ध प्रकृति की विनाश लीला के मिले-जुले परिणाम मानव समाज के लिए अहितकर हीं हो सकते हैं। युगसंधि की इस वेला में इस खतरे से सावधान रहने और बिना किसी भय आतंक के शौर्य और साहस के साथ इन्हें निरस्त करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ प्रकट करने की आवश्यकता है।

स्रष्टा अपनी इस कलाकृति का संतुलन इस सीमा तक नहीं बिगड़ने देगा कि विनाश की विभीषिका शालीनता की संस्कृति को निगल जाए। ऐसे अवसरों पर भगवान की युगांतरीय चेतना सूक्ष्मजगत में अवतारी प्रवाह बनकर गतिशील होती है और उस प्रवाह में जाग्रत आत्माएँ नवसृजन के उत्तरदायित्वों को वहन करने के लिए अंतःप्रेरणा से प्रेरित होकर उत्साहपूर्वक कार्यक्षेत्र में उतरती हैं।

नैष्ठिक साधकों से लोकमंगल के लिए भी इन अवसरों में कुछ पुरुषार्थ परमार्थ करते रहने का अनुरोध किया गया है। उसके भी पाँच

सूत्र हैं-(१) उन्हें अपने संपर्क क्षेत्र में न्यूनतम दस सामान्य स्तर के साधक उपासक बनाए रहना चाहिए। यह संख्या २४ तक भी हो सकती है। सामान्य गायत्री उपासकों को न्यूनतम तीन माला का जाप अथवा चौबीस गायत्री मंत्र लेखन अथवा ५ गायत्री चालीसा पाठ नित्य करते रहने का नियम है। (२) एक घंटा समय और एक रुपया नित्य ज्ञानयज्ञ के लिए नियमित रूप से निकालना। इस अनुदान का उपयोग निजी स्वाध्याय की सामग्री उपलब्ध करने एवं संपर्कक्षेत्र में युगचेतना का आलोक वितरण करने के लिए करना। युगसाहित्य के स्वाध्याय का विस्तार इस सहज अनुदान के सहारे सहज गति से होता रह सकता है। (३) परिवार निर्माण के लिए प्रयत्न करना। अपने घरों में गायत्री नमन, बलिवैश्व की पाँच आहुतियाँ, प्रेरक कथा कहानी एवं सत्प्रवृत्तियों का संवर्द्धन, जन्म दिवोत्सव एवं पर्व संस्कारों के प्रेरणाप्रद प्रचलन के सहारे परिवार निर्माण की प्रक्रिया का शुभारंभ किया जाना चाहिए। (४) साधना, स्वाध्याय, संयम और सेवा की चतुर्विध सत्प्रवृत्तियों का विस्तार करने के लिए ध्यान रखना, परिस्थितियों के अनुसार योजना बनाना और कार्यान्वित करना। (५) अपने क्षेत्र में गायत्री मंदिरों की स्थापना करना। उनके माध्यम से जन मानस के परिष्कार का वातावरण बनाना। इन पाँच कार्यों में अपने से संबंधित सामान्य साधकों की श्रद्धा और गति भी बढ़ाते रहना चाहिए।

युग-परिवर्तन के लिए आवश्यक वातावरण बनाने एवं प्रखर व्यक्तित्वों के निर्माण का योजनाबद्ध प्रयत्न करने के लिए हर गाँव में एक गायत्री मंदिर होना चाहिए। उन उद्देश्यपूर्ण देवालयों की गतिविधियाँ समर्थ गुरु रामदास द्वारा अपने समय और क्षेत्र में स्थापित किए महावीर मंदिरों जैसी होगी।

गायत्री मंदिरों का एक सुनियोजित ढाँचा है। ६० × ८० फुट जमीन, मंदिर, बरामदा, दो कमरे, एक सत्संग के लिए दूसरा निवास के लिए। मध्य में खुली यज्ञशाला। लागत लगभग पंद्रह हजार। गायत्री परिवार के तत्त्वावधान में इनका सूत्र-संचालन। इन छोटे-छोटे स्वल्प

प्रयासों और थोड़े धन से बन जाने वाले देवालयों का निर्माण क्रम सर्वत्र उत्साहपूर्वक चलना चाहिए।

युगधारा को अधिकाधिक द्रुतगामी बनाने के लिए निष्ठावान साधकों की संयुक्त शक्ति का अभियान अत्यधिक प्रभावी सिद्ध होगा। इन दिनों गायत्री परिवार सदस्यों की संख्या २४ लाख के लगभग है। इनमें से एक लाख नैष्ठिक उपासक इस युगसंधि के प्रथम वर्ष में बन जाने की आशा है। देश में यों तो १४ प्रांत हैं, पर छोटों को मिलाने से वे १० ही रह जाते हैं। साधकों का वर्गीकरण करने की दृष्टि से १० प्रांत माने जाएँ तो एक लाख नैष्ठिक साधकों का लक्ष्य पूरा करने के लिए हर प्रांत पीछे दस हजार की संख्या आती है। इनके पीछे दस-दस अनुसाधक रहें तो कुल मिलाकर हर प्रांत में एक लाख साधकों द्वारा प्रस्तुत महापुरश्चरण चलते रहने की योजना है। इस आधार पर हर प्रांत में २४ करोड़ जप प्रतिदिन होता रहेगा अर्थात भारत भर में २४० करोड़ जप। यह बहुत बड़ी संयुक्त साधना है। इसका प्रभाव भी असाधारण होगा। उससे जन मानस के परिष्कार, वातावरण अनुकूलन तथा युग-प्रवाह को अधिकाधिक गतिशील बनाने में असाधारण सहायता मिलेगी। यह क्रम बीस वर्षों तक चलता ही नहीं, बढ़ता भी रहेगा।

नैष्ठिक गायत्री उपासक अपने आत्मनिर्माण के पाँच एवं लोक निर्माण के पाँच व्रतों को अपनाने और उन्हें क्रियान्वित करने के लिए प्रयत्नशील रहकर युगसंधि में जागरूक आत्माओं की भूमिका भली प्रकार संपन्न कर सकेंगे। महाकाल ने समस्त श्रद्धावानों को यह प्रेरणा अपनाने और प्रस्तुत सुअवसर का समुचित लाभ उठाने का आमंत्रण भेजा है। इसे अपनाने में हर दृष्टि से लाभ ही लाभ है।

इन दिनों जागरूकों को अपनी आत्मशक्ति का अधिकाधिक विकास करना चाहिए। अशुभ को निरस्त करने और सृजन को समर्थ करने के लिए आत्मशक्ति की इन दिनों विशेष आवश्यकता है। उसे उपलब्ध करने के लिए उपासना का एक अभिनव उपक्रम इन्हीं दिनों आरंभ किया जा रहा है। इसे युग निर्माण परिवार के समस्त परिजनों द्वारा अपनाया जाना चाहिए। उनके संपर्क में जो भी आत्मचेतना संपन्न

व्यक्ति आएँ उन्हें भी अपनाने के लिए कहा जाना चाहिए। अभी इसे कुछ समय समझने-समझाने का प्रयत्न किया जाए। आवश्यक पृष्ठभूमि बनाई जाए, गोष्ठियों और परामर्शों में उसके हर पक्ष को भली प्रकार समझ लेने के उपरांत ही, वह श्रद्धा और तत्परता विकसित होगी जिसके सहारे इस अति महत्त्वपूर्ण युग साधना का सही और स्थायी रूप में निर्वाह संभव हो सके।

युगसंधि में आरंभ होने वाली युगसृजनशिल्पियों की युग साधना का रूप इस प्रकार है-

(१) दैनिक उपासना में न्यूनतम गायत्री मंत्र की तीन माला अथवा २४ मंत्र लेखन अथवा पाँच गायत्री चालीसा पाठ। नैष्ठिक साधक इतना तो करें ही अधिक बन पड़े तो और भी उत्तम है।

(२) गुरुवार को अस्वाद व्रत एवं ब्रह्मचर्य व्रत पालन।

(३) आश्विन और चैत्र की नवरात्रियों में सामूहिक गायत्री अनुष्ठान।

इस नियमित उपासनाक्रम के अतिरिक्त प्रातःकाल की शक्ति संचार साधना है। यह सूर्योदय से एक घंटा पूर्व से लेकर सूर्योदय तक की अवधि में किसी भी समय १५ मिनट तक की जा सकती है। विधि इस प्रकार है-

- स्थिर शरीर-शांतचित्त-सुखासन (पलथी)-कमर सीधी-हाथ गोद में-आँख बंद-ध्यान-मुद्रा।
- साँस धीरे-धीरे खींचें। अनुभव करें हिमालय केंद्र से प्रेरित विशिष्ट प्राण-प्रवाह साँस के साथ घुलकर शरीर में भीतर पहुँच रहा है।
- यह प्राण प्रवाह युक्त साँस मल-मूत्र छिद्रों के मध्य मूलाधार चक्र तक पहुँचकर उससे टकराता है।
- प्राण-वायु के टकराने से मूलाधार में सोई पड़ी सर्पिणी के सदृश कुंडलिनीशक्ति में हलचल उत्पन्न होती है।

- कुंडलिनी श्वास में घुले प्राण-प्रवाह को पीकर जाग्रत और परिपुष्ट होती है। उस जागरण से स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों को बल मिलता है।
- साँस को खींचते समय प्राण के मूलाधार चक्र तक पहुँचने का और रोकते समय मूलाधार से टकराने तक कुंडलिनी जागने की धारणा की जाए।
- छोड़ते समय यह किया जाए कि प्राण वायु मेरुदंड मार्ग से ऊपर उठती हुई मस्तिष्क के मध्य केंद्र तक पहुँचती है और वहाँ से वह नासिका द्वारा अनंत अंतरिक्ष में बिखर जाती है। यह समस्त प्राण-प्रवाह ब्रह्मांड में फैलता है। उसके प्रवाह से विभीषिकाएँ निरस्त होती हैं और अनुकूलताएँ बढ़ती हैं।
- यह एक प्राणायाम हुआ। इसमें पूरक, कुंभक और रेचक तीन ध्यान हैं। तीनों के तीन उद्देश्य हैं-धारण, जागरण एवं संचार। इससे आत्मसत्ता की प्रखरता बढ़ती है और वातावरण के अनुकूलन में सहायता मिलती है।
- जप की दैनिक, व्रत की साप्ताहिक और अनुष्ठान की छमाही साधना करने का नियम बनाया जाए और उसे निष्ठापूर्वक निभाया जाए। कारणवश कभी उसमें व्यतिरेक उत्पन्न हो जाए तो उसकी पूर्ति अगले दिनों कर दी जाए।

यह साधना देखने में सामान्य किंतु परिणाम में असामान्य है। इसमें विशेष महत्त्व शक्ति-संचार साधना का है। इसे हिमालय पर अवस्थित अध्यात्म ध्रुव केंद्र का अनुदान समझा जाए। युगसंधि के वर्षों में यह विशिष्ट प्राण-प्रवाह सूर्योदय तक निरंतर चला करेगा, यह युग निर्माण परिवार के परिजनों को अतिरिक्त अनुदान है। इसका स्वरूप प्राण-प्रवाह है, जिसे संकल्पपूर्वक खींचने पर साँस के साथ भीतर प्रवेश करने का अवसर मिल जाता है। इस उपलब्धि को एक प्रकार का आध्यात्मिक 'टानिक' समझा जाए। जो इसे प्राप्त कर आत्मबल से संपन्न होंगे, वे अपने भीतर ओजस्, तेजस्, वर्चस् की क्रमिक अभिवृद्धि होती अनुभव करेंगे। साँस खींचने का प्रथम पूरक

भाग इसी निमित्त है। इसे अनुदान पाने और सँभालकर रखने की धारणा कह सकते हैं। दूसरा कुंभक भाग, मूलाधार में अवस्थित दिव्य कुंडलीशक्ति को जगाता है। उसे प्रसुप्ति का जागरण समझा जाए। अतींद्रिय क्षमता अंतराल में छिपी पड़ी है। उसे जगाने पर साधक में दैवी शक्तियाँ बढ़ती और परिपुष्ट होती हैं।

निजी पुरुषार्थ मात्र की साधनाएँ इस जागरण प्रक्रिया को बहुत समय में बहुत बड़ी कठिनाई से–स्वल्प मात्रा में ही सफल बना पाती हैं किंतु दिव्य प्राण का अनुदान श्वास-प्रश्वास में घुला रहने से, वह प्रयोजन सरलतापूर्वक अधिक मात्रा में संपन्न होता है। युगशिल्पियों को इन दिनों इतना अवकाश नहीं मिलेगा कि वे इतनी लंबी एकांत साधना एवं कठिन तपश्चर्याएँ कर सकें। साथ ही उन्हें विशिष्ट उत्तरदायित्वों को वहन करने के लिए अतिरिक्त सामर्थ्य भी चाहिए। यह उपलब्धि इस साधना द्वारा मिल सकेगी। विवेकानंद की निजी संपदा स्वल्प थी तो भी वे गुरु के अनुदान से आत्मबल संपन्न बने और महत्त्वपूर्ण कार्य कर सके। गुरुदेव भी इतने कठिन उत्तरदायित्वों का निर्वाह ऐसे हिमालयी अनुदान के सहारे कर पाते हैं। यह लाभ अब अन्य सृजनशिल्पियों को भी मिलने लगेगा। प्राण साधना के कुंभक काल में प्रसुप्ति को जगाने की प्रक्रिया संपन्न होती है।

तीसरे पक्ष रेचक को विश्व-कल्याण के निमित्त प्रस्तुत किया गया साधक का योगदान कह सकते हैं। दूषित और विक्षुब्ध वातावरण पृथ्वी के इर्द-गिर्द छाया हुआ है। विपत्तियों और विभीषिकाओं के बरसने की आशंका इसी काली घटा से है। इसे धकेलकर अनंत ब्रह्मांड में तिरोहित करना है। इस प्रयोजन के लिए संचार साधना द्वारा छोड़ा गया प्राण-प्रवाह अभीष्ट उद्देश्य को पूरा कर सकेगा। युग निर्माण योजना के प्रायः २४ लाख सदस्य हैं। इन सबके द्वारा एक नियत समय पर किए जाने वाली यह बाण-वर्षा धकेलने और खदेड़ने का काम भली प्रकार कर सकेगी। यह क्रम ठीक तरह चल पड़े तो अगले बीस वर्षों में जिन प्रतिकूलताओं के बरसने का भय है, उसका बहुत बड़ा भाग निरस्त हो जाने की आशा है। जो अवश्यंभावी है,

उसका इतना अंश ही मनुष्य को संत्रस्त करेगा जिसे वह सरलतापूर्वक सहन कर सके। महाविनाश के टल जाने में इस साधना का चमत्कारी परिणाम होता है। शर्त एक ही है कि परिजन उसे निष्ठापूर्वक नियमित रूप से निर्धारित समय पर करते रहें।

दूसरे चक्र की अवधि में साँस द्वारा छोड़ा गया प्राण-प्रवाह जहाँ प्रतिकूलताओं को खदेड़ने में सफल होगा, वहाँ इस संभावना की भी पूरी-पूरी आशा है कि अनुकूलताएँ दिव्य लोकों से खिंचें और प्राणियों में सद्भावना तथा पदार्थों में सार बनकर पृथ्वी पर उतरें। सतयुग-नवयुग के लिए मानवी पुरुषार्थ के अतिरिक्त दैवी अनुदानों की भी आवश्यकता पड़ेगी। प्रस्तुत साधना का आकर्षण द्रौपदी और गज को मिले अनुग्रह जैसे दिव्य अनुदान उपलब्ध ही कर सकता है।

पंद्रह मिनट सबकी सुविधा की दृष्टि से न्यूनतम अनुबंध की तरह रखे गए हैं। अधिक समय बढ़ाना हो तो उसे हर सप्ताह एक मिनट के क्रम से बढ़ाया और अधिकतम आधा घंटा तक पहुँचाया जा सकता है। इससे अधिक न किया जाए। प्रस्तुत प्राण-प्रवाह में हिमालय से प्रेषित विशिष्ट ऊर्जा सम्मिलित रहती है। उसे खींचना सरल है, पर पचाना कठिन है। पंद्रह मिनट सबको पच सकते हैं। यह मध्यवर्ती मात्रा है। बालक एवं दुर्बल दस मिनट ही करें। जो आत्मिक दृष्टि से प्रौढ़ एवं परिपक्व हैं, वे एक-एक मिनट बढ़ाते हुए आधा घंटा तक पहुँच सकते हैं। अधिक भोजन से उत्पन्न होने वाली हानियों की तरह उस प्राण-संचार साधना को भी उपयुक्त सीमा तक सीमित रखने को ही कहा गया है।

युगसंधि की यह साधना सभी परिजनों को गायत्री जयंती से आरंभ करनी है। पर उससे पूर्व उसकी चर्चा, शिक्षा चलनी चाहिए ताकि नियत समय में उसे सही रूप से अपनाया जाना और आत्म-कल्याण तथा विश्व-कल्याण का उभयपक्षीय प्रयोजन पूरा कर सकना संभव हो सके।

❐

सामूहिक उत्कर्ष के लिए सामूहिक साधना

युगसंधि की इस वेला में प्रस्तुत परिस्थितियों की विषमता का अंत करने तथा नवसृजन की पृष्ठभूमि बनने के लिए जाग्रत आत्माओं को नैष्ठिक साधना के लिए कहा गया है। परिवर्तन ईश्वरीय आकांक्षा है, वह पूरी होकर रहेगी। यह सुनिश्चित है। परिवर्तन जितना सुनिश्चित है उतना ही उस परिवर्तन प्रक्रिया के संबंध में यह भी सुनिश्चित है कि महाकाल अपनी यह आकांक्षा जाग्रत आत्माओं के माध्यम से ही पूरी करेगा। इस आकांक्षा पूर्ति में प्रत्येक जाग्रत आत्मा अधिकाधिक सहायक सिद्ध हो, इसके लिए नैष्ठिक साधनाक्रम अपनाने की बात कही गई।

इस संदर्भ में दूसरा चरण सामूहिक उपासना के प्रचलन को आरंभ करने के रूप में उठाया गया है। सर्वविदित है कि व्यक्ति समूह का एक अविच्छिन्न घटक है। उसकी सत्ता का वास्तविक विकास तभी संभव है, जब वह समाजनिष्ठ होकर रहे। घड़ी का एक पुरजा अलग अपनी अहंता प्रकट करे तो वह समय की सूचना दे सकने वाले समर्थ यंत्र का अंग नहीं बना रह सकेगा। हाथ, पाँव, आँख, नाक, हृदय, मस्तिष्क आदि अंग अपने अलग-अलग क्रिया-कलापों में लगे रहने पर बल दें तो शरीर का चल पाना ही कठिन हो जाए। कोई महत्त्वपूर्ण कार्य शरीर द्वारा कर पाना तो असंभव ही हो जाए।

किसी भी क्षेत्र में सामूहिक विकास के लिए सामूहिक प्रयास आवश्यक होते हैं। विज्ञान हो या उद्योग, शिक्षा हो या चिकित्सा, राजनीति हो या समाजसेवा, सामूहिक गतिविधियों के तालमेल के बिना इनकी स्थिति और प्रगति संभव नहीं। निस्संदेह इनमें से प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति की निजी परिकल्पनाओं-विचारों की उथल-पुथल भी योग देती है, पर यह योग सामूहिक प्रयास का अंग बनकर ही दिया जा सकता है। आइंस्टाइन की निजी परिकल्पना उस समय तक के

सामूहिक वैज्ञानिक शोध-प्रयासों के परिणामों का लाभ उठाए बिना सापेक्षतावाद का सिद्धांत न बन पाई। फिर, उसे सार्वत्रिक स्वीकृति तो वैज्ञानिकों के समूह द्वारा परखे जाने पर ही मिली। तभी वैज्ञानिक चिंतन एवं शोध की दिशा में उसका उपयोग संभव हुआ। गांधी जी का अहिंसा और सत्याग्रह का विचार सामाजिक साधना के बिना न तो राजनीतिक स्वाधीनता दिलाने का आधार बन सकता था, न ही सामाजिक जागरण का।

साधना के उपासना वाले अंग के बारे में भारतीयों में यह भ्रांत धारणा बैठ चुकी है कि वह सिर्फ अलग-अलग ही होनी चाहिए। लेकिन इसका न तो शास्त्रीय आधार है, और न ही व्यावहारिक कसौटी पर वह मान्यता प्रामाणिक ठहरती है। एकांत भजन और उपासना की भी सार्थकता यही है कि वह व्यक्ति को इस यथार्थ बोध तक पहुँचा दे कि वह विराट सर्वव्यापी चेतना का ही एक अंश है। अनंत चेतना समुद्र की असंख्य मछलियों में से एक है। इस सामूहिकता के बोध के बिना उपासना को कभी भी सार्थक नहीं माना जाता। आज तक किसी भी सच्चे साधक ने यह कभी नहीं कहा कि परमात्मा से कोई निजी सौदेबाजी, गुपचुप अपना काम करा लेने और बस अपना ही रिश्ता बना लेने की आकांक्षा और उद्यम साधना का अंग है। उलटे उसे विकृति ही कहा जाता है।

उपासना संबंधी विकृतियों का बड़ा रूप उसे पूरी तरह निजी मान बैठना है। व्यक्ति की पूर्णत: निजी सत्ता जैसी कोई चीज है ही नहीं, तब पूर्णत: निजी उपासना कैसे हो सकती है?

उपासना का उद्देश्य चेतना का विस्तार, आनंद की उपलब्धि, शक्ति का अर्जन और मनोयोग को उत्कृष्टताओं से जोड़ना है। इनमें से कुछ भी अकेले-अकेले संभव नहीं है। चेतना का विस्तार संकीर्णता की परिधि में सिमटे रहकर कैसे हो सकता है? यदि परमसत्ता का ही मन एकाकी नहीं रमा, उसने एकाकीपन से ऊबकर मनुष्य समेत यह

सृष्टि रची, तब उस सृष्टि का एक अंश मनुष्य एकाकी कैसे आनंद पा लेगा? शक्ति का अर्जन और शक्ति की उपयोगिता दोनों ही समूह के बीच ही सार्थक हो सकते हैं। मन को उत्कृष्टताओं से जोड़ने का समाज-निरपेक्ष अर्थ कुछ हो नहीं सकता। जहाँ समूह नहीं, समाज नहीं, वहाँ आचरण की उत्कृष्टता या निकृष्टता का प्रश्न ही नहीं। निर्जन स्थान में, जहाँ व्यवहार के लिए और कोई है ही नहीं, सिवाय ईश्वर के, वहाँ कोई भी व्यक्ति क्या आदर्श आचरण करेगा और क्या मक्कारी-बदमाशी करेगा? उपासना का समूह संदर्भ में ही कोई अर्थ और प्रयोजन हो सकता है।

जहाँ तक परंपरा की बात है, यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि प्राचीनकाल में साधना के सामूहिक स्वरूप से अलग हटकर किसी अन्य स्वरूप की कल्पना भी नहीं की जाती थी। थोड़े से समय के लिए एकांत उपासना का अर्थ सामूहिक साधना से विरत होना नहीं, उससे जुड़ना ही है। वेदों में सामूहिक उपासना संबंधी उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। वैदिक साहित्य में उपासना, साधना और अनुभूति के किसी भी प्रसंग के वर्णनक्रम में एक ही तारतम्य में वचनों का प्रयोग बदलता रहता है। अभी एकवचन क्रिया है, अगली पंक्ति में वह बहुवचन हो गई। ऊषा के स्तुति गान में कहीं उसका द्रष्टा-स्रोता एक है, कहीं अनेक। सोमपान के प्रसंगों में भी एकवचन और बहुवचन क्रियाएँ परस्पर घुली-मिली सी देखी जा सकती हैं। प्रार्थना, उल्लास और आनंद की अधिकांश अभिव्यक्तियाँ सामूहिक हैं-'**आनो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः**' अर्थात विश्व भर से श्रेष्ठ विचार हमारे भीतर आएँ। प्रार्थना और साधना का सर्वोत्कृष्ट मंत्र, वेदों का सारभूत गायत्री मंत्र सामूहिकता से जुड़ा है। साधक अकेले अपनी नहीं, पूरे समूह की बुद्धि को प्रेरित करने की प्रार्थना सविता देवता से करता है। इशोपनिषद् में जहाँ साधना में डूबा साधक निजी अनुभूति करता है-

तेजो यत् ते रूपं कल्याणातम् तत् ते पश्यामि।
योऽसायसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥

हे प्रकाशपुंज! मैं आपके कल्याणकारी तेजोमय स्वरूप को देख रहा हूँ। वह मैं स्वयं हूँ। इसके बाद के एक श्लोक के बाद वह प्रार्थना करता है–'**अग्ने ! नय सुपथा राये अस्मान्**' अर्थात हे तेजपुंज! हम सबको सन्मार्ग की ओर खींचिए।

इस स्वच्छंद क्रिया-परिवर्तन का क्या अर्थ है? क्या तत्त्वद्रष्टा ऋषियों को साहित्य और व्याकरण के नियम नहीं ज्ञात थे? तब इतने श्रेष्ठ साहित्य का सृजन कैसे संभव हुआ? विचार करने पर यही तथ्य स्पष्ट होता है कि हमारे पूर्वज सामूहिक साधना करते थे। तादात्म्य की चरम सीमा में एक ओर जहाँ उनकी निजी अनुभूति मुक्त रूप में फूट पड़ती थी, वहीं अपनी साधना के सामूहिक स्वरूप का भी उन्हें सर्वदा स्मरण रहता था। वैदिक साहित्य और उपनिषदों के अध्ययन में ऐसे स्थल बार-बार आते हैं, जिनसे यह पता चलता है कि अभी-अभी साधक परमसत्ता से तल्लीनता की अनुभूति कर आनंदोल्लास से भर उठा है और उसके कंठ से वह अनुभूति फूट रही है जिसे पहले वह एकवचन में कह रहा है, पर तत्काल ही बहुवचन में कहने लगता है। इसका अर्थ है कि एकवचन में व्यक्त अनुभूतियाँ प्रत्येक साधक की एक सी निजी अनुभूतियाँ हैं, जो अगले चरण में सामूहिक स्वरों में दोहराई गई हैं।

अकेले व्यक्ति के कल्याण के लिए वैदिक ऋषि प्रार्थना करते थे। वे तो मनुष्य का यही कर्त्तव्य मानते थे कि '**पुमान पुमासं परिपातु विश्वतः।**' अर्थात मनुष्य, मनुष्य की रक्षा करे। उनकी यही प्रार्थना होती थी कि सभी कल्याण की उपलब्धि करें और कोई दुःखदग्ध न हो।

ऋग्वेद और अथर्ववेद के सांमनस्य सूक्तों में सामूहिक अनुभूति और सामूहिक कामनाएँ ही व्यक्त हुई हैं, जैसे–

सं गच्छध्वं, सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे, संजानाना उपासते॥

हम सब साथ-साथ चलें, साथ-साथ बात-चीत, विचार-विमर्श करें और एक से मनोभावों से युक्त रहें।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो, यथा वः सुसहासति॥

हमारी चित्तवृत्तियाँ समान हों, हृदय और मन समान हों, जिससे सौहार्द्र से रह सकें।

सामूहिक साधना की अनिवार्यता ही इन पंक्तियों में प्रकट हुई है। समान चित्तवृत्ति तभी होगी, जब समान साधना की जाएगी। एक सी विचार-तरंगें और भाव-तरंगें एक सी चित्तवृत्ति को जन्म देती हैं। एकाग्रता का यही अर्थ है। उपासना के लिए आवश्यक एकाग्रता को अंधकार और अज्ञानता के युग में बहुत गलत समझ लिया गया। एकाग्रता का अर्थ-मन की पूर्ण नीरवता नहीं, मन का एक ही दिशाधारा में दौड़ना है। चारों तरफ एक साथ चित्त न दौड़े। निर्दिष्ट क्षेत्र में ही उसकी सारी शक्ति लगे यही एकाग्रता है। यों, शरीर के सभी कोशाणु अपनी सामान्य गतिविधि उस समय भी चलाते रहते हैं। वे सब कहीं दूर चले जाएँ, तब मन चुपचाप उपासना करे, ऐसा आग्रह कोई नहीं करता। उपासना का वैसा आधार ही नहीं संभव होगा। जो स्थिति शरीर में कोशाणुओं की है, वही समाज में व्यक्तियों की। सब व्यक्ति चले जाएँ, दूर हटें, तब मैं उपासना करूँ, यह आग्रह उतना ही गलत है, जितना यह कि सब चाहे जैसी गतिविधि करते रहें, मैं उन्हीं के बीच बैठा, गोमुखी में हाथ डाले माला सरकाता जाऊँगा और मेरी उपासना हो जाएगी। दोनों ही अज्ञानताजन्य अतियाँ हैं। शरीर के भिन्न-भिन्न अवयव अलग-अलग हरकतें करते रहें, तो मन एकाग्र नहीं हो सकता। इसी प्रकार उपासना की एकाग्रता अन्य व्यक्तियों के द्वारा उत्पन्न विक्षेपों के बीच नहीं सध सकती। शरीर भर में फैले हुए ज्ञान तंतु उपासना की प्रतिष्ठा में संलग्न हो जाएँ, उसी विचार और भावना से ओत-प्रोत हो जाएँ तो सच्ची और प्रगाढ़ उपासना होती है।

इसी प्रकार व्यक्तियों का समुदाय एक ही भावधारा को एक साथ अपनाए तो ध्यानधारणा प्रगाढ़ होती है, उससे एकाग्रता बलवती होती है, खंडित नहीं।

सामूहिक साधना ही हमारी समृद्ध परंपरा का अंग है। पतनकाल में व्यक्तिवादी बिखराव आ गया तो उसे उपासना का अनिवार्य अंग नहीं मान लेना चाहिए। सामूहिक उत्कर्ष के प्रयास सामूहिक साधना द्वारा ही संभव हुए हैं। जब-जब सामूहिक साधना से भारतीय विरत हुए हैं, तब-तब व्यक्तिवाद की प्रवृत्तियाँ पनपी-बढ़ी हैं और समाज की अवनति हुई है। इस अवनति से उबरने के जितने भी प्रयास हुए हैं, उनमें सामूहिक साधना पर सदा बल दिया गया है। समुद्र-मंथन एक साधना ही थी, जो देवों और असुरों की सम्मिलित उपासना द्वारा पूरी हो सकी तथा चौदह सिद्धियों की उपलब्धि संभव हुई। आध्यात्मिक दृष्टि से रावण-विजय एक साधना ही है। तुलसीदास ने इसीलिए अपने ग्रंथ को रामचरितमानस नाम दिया। अध्यात्म-रामायण में तो उस पूरे कथा-प्रसंग का अध्यात्म विश्लेषण ही प्रधान है। सीतारूपी सिद्धि को पाने के लिए रीछ-वानरों समेत सामूहिक साधना आवश्यक हुई। श्रीकृष्ण द्वारा सोलह हजार गोपियों के साथ रचा गया महारास भागवत-तत्त्व के सभी ज्ञाताओं द्वारा सामूहिक साधना ही माना जाता है। बुद्ध ने सामूहिक साधना के विशाल आयोजनों द्वारा ही लोक-जागृति की। अँगरेजों की दासता से स्वदेश को मुक्त कराने के लिए गांधी जी ने सामूहिक प्रार्थना-सभाओं को भी आवश्यक माना और उसके द्वारा सामूहिक जागृति फैला सके।

समान आकृति यानी समान चित्तवृत्ति, समान हृदय और समान मन के बिना समूह में सौहार्द्र भाव स्थायी नहीं हो सकता और वैसा हुए बिना सुमति, सौमनस्य और अंतर्बाह्य समृद्धि संभव नहीं।

सामूहिक उपासना की प्रतिक्रिया

इसकी आवश्यकता और महत्त्व को कई तरह से समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए, अलग-अलग रहकर दस आदमी अलग

प्रयत्नों से जितना काम कर सकते हैं, उसकी तुलना में उन दसों का संयुक्त प्रयत्न कहीं अधिक सत्परिणाम उत्पन्न करेगा। अलग-अलग रहकर सींकें उतनी सफाई नहीं कर पातीं जितनी कि उन्हें मिलाकर बनने वाली बुहारी द्वारा संभव होती है। ठीक इसी प्रकार अलग-अलग की जाने वाली उपासना व्यक्ति एवं वातावरण को परिष्कृत करने में जितनी उपयोगी सिद्ध होती है, उसकी तुलना में एक संकल्प सूत्र में आबद्ध होकर एक तत्त्वावधान में की गई साधना का प्रभाव कहीं अधिक होता है। सामूहिक प्रयास, सत्संग, कथा, कीर्तन, यज्ञानुष्ठान, परिक्रमा, तीर्थयात्रा आदि की क्षमता सामान्य गणना की तुलना में कहीं अधिक होती है।

शब्दशक्ति का संयुक्त समावेश कितना प्रभावी होता है? इसका एक प्रमाण तब मिलता है जब किसी भारी वजन को ऊपर उठाने या आगे धकेलने के लिए मजदूर लोग एक नारा लगाकर एक साथ अपनी सामर्थ्य को केंद्रित करते हैं। प्रातः-सायं मंदिरों में होने वाली आरती, विद्यार्थियों की सामूहिक प्रार्थना में भी यही विशेषता रहती है कि संयुक्त मन, संयुक्त भाव-प्रवाह से उत्पन्न शब्दशक्ति उच्चारणकर्त्ताओं से लेकर अन्य असंख्यों के समग्र वातावरण को प्रभावित करने में विशेष रूप से फलप्रद होती है।

ध्वनिशक्ति के संदर्भ में जो शोध कार्य वैज्ञानिक क्षेत्रों में चल रहा है उससे सामूहिक उच्चारण की प्रतिक्रिया के संबंध में नए तथ्य सामने आए हैं। एक निष्कर्ष यह निकला है कि संसार के ५० प्रतिशत व्यक्ति भी यदि सक्रिय हों तो वे शब्दों तथा ध्वनियों द्वारा ३ घंटे में छह हजार खरब वाट विद्युत शक्ति पैदा करते हैं, जो भारत में पैदा की जाने वाली कुल ऊर्जा से ८ गुना ज्यादा है। संपूर्ण विश्व में इस ऊर्जा से घंटों प्रकाश किया जा सकता है।

साधारणतया वाणी का उपयोग बातचीत के एवं जानकारियों के आदान-प्रदान हेतु ही होता है। यह उसका अति स्थूल प्रयोग है। शब्द की सूक्ष्मशक्ति और उसके उपयोग की विधि को जाना जा सके तो उससे असंख्य गुना लाभ उठाया जाना संभव हो सकता है।

शब्द के साथ जुड़ा विद्युत-प्रवाह कितना प्रचंड है, इसे पदार्थ विज्ञानवेत्ता जानते हैं और उसी ज्ञान के आधार पर रेडियो, टेलीविजन, रडार आदि यंत्रों का निर्माण करते हैं। आज इसी शब्दशक्ति के आधार पर शरीर की विभिन्न गहन परतों में छिपी व्याधियों का निदान भी संभव है। इकोएनसेफेलोग्राफ द्वारा प्रतिध्वनि प्राप्त कर मस्तिष्क की बीमारियों का पता लगाया जा सकता है तो उसी तरह इकोकार्डियोग्राफ द्वारा हृदय की व्याधियों का। आवाज मुँह से निकलने वाली 'हवा' मात्र ही नहीं है वह एक शक्तिशाली ऊर्जा (एनर्जी) की तरह है।

उच्चारित शब्द कान व त्वचा पर सीधा प्रभाव डालते हैं। कान एक प्रकार का माइक्रोफोन है जिसमें ०२ से २०,००० आवृत्तियों का प्रवेश होते ही एक धारा प्रवाहित होने लगती है। सीधे मस्तिष्क तक पहुँचकर यह शरीर के सभी भागों एवं ग्रंथियों को क्रियाशील बना देती है। मनुष्य के शरीर, विचारणा एवं भाव स्थिति की त्रिविध क्षमताओं का समन्वय करके जो विद्युत-प्रवाह प्रस्तुत होता है, उसकी क्षमता को अध्यात्म तत्त्ववेत्ताओं ने समझा है और उसी आधार पर मंत्रविद्या का आविष्कार किया है।

उच्चारित शब्दों का श्रोता के मस्तिष्क पर दो तरह से प्रभाव पड़ता है। पहला-मुख से शब्द निकलने से पूर्व वक्ता के मस्तिष्क से कुछ उसी प्रकार की विद्युत-चुंबकीय लहरें निकलती हैं जिन्हें श्रोता का मस्तिष्क ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। दूसरा-उच्चारित शब्द वायुकंपनों के माध्यम से विद्युत संचार के रूप में कर्णरंध्रों से होते हुए मस्तिष्क तक पहुँचकर विभिन्न आवेग उत्पन्न करते हैं। अपमान-सूचक शब्द कहने से दूसरों को किस तरह क्रोध आता है फलस्वरूप अनर्थ होता है-इसका उदाहरण द्रौपदी के थोड़े शब्दों से महाभारत का हो जाना है। दुःखद शोक-संताप की घटना सुनकर कैसा बुरा हाल हो जाता है। भावनाओं को उभारने तथा तरंगित करने का काम संगीत कितनी अच्छी तरह करता है, यह सर्वविदित है।

मंत्रविज्ञान द्वारा समस्त सूक्ष्मजगत को प्रभावित करना संभव है। सितार के तारों पर क्रमबद्ध उँगलियाँ रखने से जिस तरह विभिन्न

प्रकार की स्वरलहरियाँ निकलती हैं उसी प्रकार शब्दों के उच्चारण का एक लयबद्ध क्रम रहने से उसमें भी विशेष प्रकार के, विशेष शक्तिशाली कंपन उत्पन्न होते हैं। मंत्रों में अक्षरों के क्रम तथा उनके उच्चारण की विशेष विधि-व्यवस्था का ही अधिक महत्त्व है। कंठ, तालू, दाँत, होठ, मूर्द्धा आदि जिन स्थानों से शब्दोच्चारण होता है उनका सीधा संबंध मानव शरीर के सूक्ष्म संस्थानों से है। षटचक्र, उपत्यिका एवं दिव्य नाड़ियों, ग्रंथियों का एक सूक्ष्म संस्थान है, जिनमें हमारे मुखयंत्र के तार जुड़े हुए हैं। जब मंत्र गुंफनों का प्रभाव उक्त संस्थानों पर पड़ता है, तब एक अतिरिक्त शक्ति-तरंगों का प्रवाह चल पड़ता है। जो मंत्रविज्ञानी को लाभान्वित करता है, उसकी प्रसुप्त क्षमताओं को जगाता है। जब वे कंपन बाहर निकलते हैं तो वातावरण को प्रभावित करते हैं। ये कंपन सूक्ष्मजगत में अभीष्ट परिस्थितियों का सृजन करते हैं और व्यक्ति विशेष को प्रभावित करना हो तो उस पर भी असर डालते हैं।

भारतीय संस्कृति के प्राचीन ग्रंथों में शब्दों की इन्हीं प्रक्रियाओं को ध्यान में रखकर विविध शब्द प्रक्रियाओं का विधान किया गया है। आज के वैज्ञानिक युग में यह सब मनोवैज्ञानिक युद्ध यानी 'साइकोलॉजीकल वार' (या स्नायविक) के अंतर्गत आता है।

इसी शब्दशक्ति का उपयोग करके पिछले दिनों कनाडा के उत्तरी भाग में हजारों वर्गमील के क्षेत्र में सोवियत रूस द्वारा रोगवर्द्धक तरंगें फैलाई गई थीं, जिनसे वहाँ के निवासियों में चिड़चिड़ापन, मानसिक तनाव, डिप्रेशन, आत्महत्या की वृत्ति देखने में आई। विश्लेषण करने पर मालूम हुआ कि किसी स्थान विशेष से तरंगें छोड़ी जा रही हैं जो किन्हीं निश्चित आवृत्तियों में होने से मानसिक क्षमताओं पर ऐसा प्रभाव छोड़ रही हैं। इस तरह शब्दशक्ति का दुरुपयोग कर 'साउंड वार' भी आरंभ हो गया है। दूसरी ओर चिकित्सकों ने ध्वनि विज्ञान का सहारा लेकर 'साउंड थैरैपी' नामक एक नई ही चिकित्सा पद्धति का आविष्कार किया है जिससे शरीर के विभिन्न भागों म दरद आदि कष्टों का इलाज किया जाता है। ध्वनि के कंपनों द्वारा परमाणु को

सूक्ष्मतम भागों में विभाजित करना अब संभव है। इन सबके मूल में हमारे ऋषि-मनीषियों द्वारा प्रतिपादित मंत्रशक्ति है, जिसमें ध्वनि विज्ञान का आश्रय लेकर सूक्ष्म संस्थानों व वातावरण को प्रभावित किया जाता है।

पाश्चात्य देशों में शब्द शक्ति के एक रूप को सम्मोहन (हिप्नोटिज्म) और आत्म परामर्श (आटो सजेशन) की संज्ञा प्रदान की गई है। प्रसिद्ध रूसी मनोवैज्ञानिक आई. वी. पावलोव ने शब्दों को अत्यंत शक्तिशाली अनुकूलित प्रतिवर्त्त (उत्तेजक) 'कडीशन्ड रिफ्लेक्स' की संज्ञा दी है। शब्दशक्ति पर पावलोव ने विशद कार्य किया है, जो विश्वप्रसिद्ध है। शब्दशक्ति का महत्त्व वैज्ञानिक जानते हैं व उसे उपयोग में भी अब लाने लगे हैं। यदि यह सब संभव है तो मंत्रविद्या की सामर्थ्य को समझकर हम उसका समुचित उपयोग कर भौतिक उन्नति से कम नहीं बल्कि कई गुनी अधिक लाभदायक आध्यात्मिक उपलब्धि प्राप्त कर सकते हैं।

यह शब्दशक्ति तब और भी अधिक प्रखर हो उठती है, जब उसका भावनात्मक तारतम्य एवं उच्चारण का प्रवाह सामूहिकता को अपना ले। वेद मंत्रों को सामगान के स्वरक्रम में गाने वाले उद्गाता अपने उपक्रम से चमत्कारी परिणाम उत्पन्न करते हैं। यज्ञानुष्ठानों में भी यही शब्द सहकार एक महत्त्वपूर्ण तथ्य होता है और उसका प्रभाव भी असाधारण ही होता है।

तथ्यों से स्पष्ट है कि साधना को शक्ति देने के लिए उसमें सामूहिकता का समावेश अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। एकाकी भजन, एकाकी परिणाम ही उत्पन्न कर सकता है किंतु सामूहिक साधना का प्रभाव दूसरों को प्रकाश, प्रोत्साहन एवं अनुकरण की उमंगें प्रदान करता है। वातावरण में उपयोगी प्रवाह उत्पन्न करता है। अपना निज का लाभ भी अपेक्षाकृत अधिक ही संपादित होता है। एकाकी यात्राएँ काटे नहीं कटतीं, पर यदि उनमें कई लोगों का समूह जुड़ जाता है तो साथ-साथ ही हँसते-बोलते, खाते-पीते, गीत-गाते रास्ते में कितना

आनंद आता है–यह कोई भी तीर्थयात्री अच्छी तरह समझ सकता है, सुरक्षा–सहायता के अनेक लाभ तो उसमें अनायास रहते ही हैं।

रामायण, भागवत, गीता पाठ आदि अनेकों लोग करते ही रहते हैं पर उसी उपचार को सब लोग एक स्थान पर बैठकर एक संयुक्त संकल्प के अंतर्गत, योजनाबद्ध होकर करें तो उसका नाम पारायण हो जाता है। रामायण पारायण, गीता पारायण, भागवत पारायण आदि की विधि व्यवस्था देखने में ही उत्साहवर्द्धक और आकर्षक नहीं लगती वरन उसका प्रभाव भी पाठ करने वालों पर होता है। सूक्ष्म जगत की हलचल भी उससे प्रभावित होती है। अखंड पाठ, कीर्तन, सहगान, सहपाठ आदि के धर्मानुष्ठान भी इसी दृष्टि से किए जाते हैं। होली–श्रावणी जैसे पर्व, विवाह यज्ञोपवीत जैसे उत्सव, सहभोज, प्रीतिभोज आदि के पीछे भी यह सामूहिकता के उभार की दृष्टि ही प्रधान रूप से काम करती है।

मनुष्यों की एक दिशा में प्रवाहित होने वाली मानसिक धाराएँ जब मिलती हैं तो उनका सूक्ष्म जगत में एक प्रवाह बन जाता है। यही उपक्रम सामूहिक धर्मानुष्ठानों, पर्वों पर एकत्रित जनसमूह से भी संभव है। उस संयुक्त भावशक्ति से जो तरंगें उत्पन्न होती हैं, वे अपने साथ अनेकों को साथ लेकर आँधी की तरह आसमान में उड़ती दिखलाई पड़ती हैं। सूक्ष्मदर्शी जानते हैं कि जनसमुदाय की भावभरी मनःस्थिति जब कभी एकत्रित होती है तो उसकी प्रतिक्रियाएँ असाधारण प्रतिफल एकत्र करती हैं। पुलों पर चलते समय मिलिटरी के जवानों को कदम न मिलाने का निर्देश है क्योंकि सामूहिक ताल की शक्ति से पुल ध्वस्त हो सकते हैं। होली के अवसर पर सामूहिक गायनों से निर्जन एकांत स्थल भी प्रफुल्लता से ओत–प्रोत हो उठते हैं। प्रस्तुत महापुरश्चरणों से ब्रह्मांड में व्याप्त कुसंस्कारों के शमन और शक्ति आकर्षण की एक ऐसी विज्ञानसम्मत प्रक्रिया उत्पन्न होगी जिससे निकटवर्ती समय में ही मानवीय प्रगति और उसकी सुख–शांति की

परिस्थितियाँ खिंचती हुई चली जाएँगी। वस्तुतः युग की अपनी कोई सत्ता नहीं है, वह मात्र घटनाओं का अच्छे-बुरे सामूहिक आचरण का इतिहास होता है। यदि वह संस्कार आकूषत किए जा सकें तो युग-परिवर्तन की आवश्यकता स्वचालित प्रक्रिया की तरह अपने आप पूर्ण होती चली आएगी। अवतारों ने इसी तथ्य को पहचाना था अथवा यह कहें कि उन्होंने सही समय पर अवतार लिया-यह दोनों तथ्य एक ही हैं। ज्योतिष विज्ञान की दृष्टि से यही प्रज्ञावतार का समय है। अतएव प्रस्तुत प्रेरणाओं को लोक मंगल की सनातन परंपरा का ही अंग मानना चाहिए।

इन दिनों जो यज्ञों की व्यवस्थाएँ देश भर में हो रही हैं उनका कोई पृथक अस्तित्व नहीं है, वे इस पुरश्चरण का अंग मात्र हैं। जप का दशांश हवन करने का विधान है। साधना विज्ञान के इसी पक्ष का स्पर्श कर २५ कुंडीय यज्ञों की शृंखला चलाई गई है। इन्हें महापुरश्चरणों का स्थानीय समापन समझना चाहिए। प्रधानता महापुरश्चरण की ही है अतएव उसमें अधिक से अधिक लोगों को अधिक समय देकर सम्मिलित होने की प्रेरणा दी जानी चाहिए। यह पुस्तक जिन हाथों में पहुँचे उन्हें तो इसे युगांतर सत्ता का प्रत्यक्ष आमंत्रण मानकर उसमें सम्मिलित होना चाहिए।

गायत्री और यज्ञ का युग्म है। दोनों की प्रगति और प्रेरणा एक जैसी है। दोनों का प्रवाह एक ही दिशाधारा में बहता है। गायत्री को माता और यज्ञ को पिता कहा गया है। दोनों में एकरूपता तो नहीं है पर एकता अवश्य है। दोनों को एक प्राण दो शरीर कहा जा सकता है। गायत्री उपासना में भी एकाकीपन नहीं है। उसका स्वरूप और प्रयोग इस महामंत्र के 'नः' शब्द में छिपा हुआ है। नः का अर्थ होता है-'हम सब'। सद्बुद्धि की सविता देवता से याचना करते समय साधक अपना उद्देश्य स्पष्ट करता है और कहता है कि यह अनुदान मुझ अकेले को देने से काम न चलेगा। बात तो तभी बनेगी जब यह

अनुकंपा हर किसी को प्राप्त हो। जिस तरह परिवार का मुखिया स्वस्थ हो पर शेष घर वाले बीमार हों तो मुखिया की स्वास्थ्य सुरक्षा भी उसे किसी तरह की सुख-शांति प्रदान कर सकेगी? विश्व-व्यवस्था भी ऐसी ही है जिसमें सुख-सुविधाएँ परस्पर विभक्त होनी चाहिए। इस तरह की भावनाएँ अपने आप में ही प्रसन्नतादायक होती हैं व्यवहार की तो कल्पना कठिन है।

यज्ञ विशुद्ध रूप से सामूहिक विधि व्यवस्था है। उसमें होता, यजमान, पत्नी, ब्रह्मा, आचार्य, अध्वर्यु, उद्गाता आदि की प्रमुखता रहती है। इसके अतिरिक्त स्वस्तिवाचन, देवपूजन, पूर्णाहुति, भस्म धारण, घृत-अवघ्राण, क्षमाप्रार्थना, आरती, प्रदक्षिणा आदि में अनेकानेक अन्य व्यक्ति भी सम्मिलित होते हैं। जलयात्रा से लेकर कुंड मंडप निर्माण तक की अनेक क्रिया-प्रतिक्रियाएँ तथा प्रयुक्त होने वाली अनेकानेक वस्तुएँ ऐसी हैं जिन्हें एक व्यक्ति के बलबूते पर नहीं संजोया जा सकता है। उस पूरी प्रक्रिया में आदि से अंत तक सामूहिकता का ही समावेश है। वह पुण्यकृत्य समूचे वायुमंडल का, वातावरण का परिशोधन करने के लिए किया जाता है। अपनी परिश्रम की कमाई को अग्निहोत्र के माध्यम से वायुभूत बनाकर जनकल्याण के लिए बिखेर देना यही तो यज्ञ है। इसमें लोकहित ही प्रधान है। जहाँ परमार्थ होगा, वहाँ प्रकारांतर से स्वार्थ तो बिना प्रयत्न के ही सधता चला जाएगा।

महाराष्ट्र में यों गणेश चतुर्थी को हर वर्ष जहाँ-तहाँ पूजा-पाठ तो होते थे और घरों में गणेश-प्रतिमा की अभ्यर्थना भी होती थी पर उसका वैसा रूप कहीं नहीं था कि संगठित प्रयासों का आश्रय लिया जाए। लोग एकत्रित होकर अपनी संयुक्त शक्ति का अनुभव करें। ऐसी अनुभूति यदि हो सके तो जनशक्ति को जाग्रत होने और दिशा विशेष में चल पड़ने का अवसर मिल सकता है। लोकमान्य तिलक ने जन मनोविज्ञान के सूक्ष्म तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए यह निष्कर्ष निकाला

कि वर्तमान परिस्थितियों में जनजागरण का उपयुक्त उपाय यही हो सकता है कि गणेश पर्व की प्राचीन परंपरा को नए आधार पर गठित किया जाए और उस धर्मोत्सव के माध्यम से लोकचेतना में ऐसा उभार लाया जाए जो स्वतंत्रता संग्राम के लिए अभीष्ट भूमिका तैयार करने का माध्यम बन सके।

तिलक ने गणेश उत्सव का नए सिरे से संचालन किया। उसमें प्रगतिशीलता और संगठन के नए तत्त्वों का समावेश किया। वे आयोजन थे तो धर्मोत्सव ही, पर उसमें रूढ़िवादी हुल्लड़भर मच जाने जैसी निरर्थकता नहीं थी। समय शक्ति और साधनों का अपव्यय न होने देकर उत्पन्न हुए उभार को भविष्य के लिए आशा का संचार करने वाली दिशा में नियोजित किया गया। फलतः सारा महाराष्ट्र उन उत्सवों के माध्यम से साहस भरी तरंगों से अनुप्राणित हो उठा। उन दिनों तो यह सब एक धर्मोन्माद सा लगता था, पर जिन्होंने उस आंदोलन का सूक्ष्म पर्यवेक्षण किया है उसने यही निष्कर्ष निकाला है कि स्वतंत्रता संग्राम में महाराष्ट्र की जो अग्रगामी शानदार परंपरा रही है उसमें गणेशोत्सव के प्रचलन ने ही प्राण भरे थे। धर्म के प्रति आस्था और देश के प्रति मर मिटने का पराक्रम इन उत्सवों के ही बीजांकुरों से फूट पड़ा था।

संयुक्त बंगाल की राष्ट्रीय जागरूकता के प्रति देश पर मर मिटने की भावना संस्कृति के प्रति सघन आस्था का कारण और इतिहास जो ढूँढ़ना चाहते हैं, उन्हें वहाँ के दुर्गापूजा समारोह के कारण उत्पन्न उभार की प्रतिक्रिया समझनी होगी। देखने में दुर्गा पूजा एक धार्मिक आवेश जैसा प्रतीत होता है और लगता है इसमें किसी देवी-देवता के प्रति भक्ति की भावना ही हलचल मचाती है। किंतु यह भूल नहीं जाना चाहिए कि सामूहिकता के साथ भाव-प्रवाह जब भी जुड़ते हैं तो संबद्ध व्यक्तियों पर ही नहीं उस क्षेत्र के वातावरण पर भी छाप छोड़ते हैं। यह छाप उस प्रवाह की दिशाधारा के अनुरूप भली या बुरी दोनों

ही प्रकार की हो सकती है। कहना न होगा कि दुर्गा पूजा की पृष्ठभूमि ने स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में उस समुदाय के द्वारा किए गए महान कृत्यों में परोक्ष रूप से भारी योगदान दिया है।

कोई यह कहने की धृष्टता तो नहीं कर सकता कि किसी क्षेत्र, वर्ग या देश में विशिष्टताएँ भर देने का श्रेय मात्र धार्मिक आयोजनों को ही है पर इसमें संदेह नहीं कि यदि वे सुनियोजित हों और उनके पीछे कोई उच्चस्तरीय दिशाधारा जुड़ी हुई हो तो उसका प्रभाव सामान्य न होकर असामान्य ही होता है। गुजरात का उदाहरण सामने है। उस प्रांत की धर्मपरायणता असाधारण है। मुसलमानों में बोहरा समाज और हिंदुओं में स्वामी नारायण संप्रदाय, बल्लभ कुल गोसाईं संप्रदाय आर्थिक दृष्टि से इतने समृद्ध हैं कि उनकी तुलना में मध्यकाल के सुसंपन्न राजा-महाराजा भी हलके पड़ते हैं। गांधी, दयानंद, नरसी मेहता, सुदामा जैसे मूर्द्धन्य संत उसी भूमि में उपजे। धार्मिकता को जीवित रखने में उस प्रांत में अपने ढंग से की जाने वाली अंबा-आराधना का विशेष महत्त्व है जो महिला समाज में गरबा के नाम से प्रसिद्ध है। लाखों नर-नारी उन आयोजनों से भावभरी प्रेरणा प्राप्त करते हैं। फलतः पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन पर उसका असाधारण प्रभाव पड़ता है। गुजरात की धार्मिकता की विशेषता पर यदि शोध की जा सके तो प्रतीत होगा कि वैसा वातावरण बनाने में लोकमानस तैयार करने में इस अंबा-आराधना का असाधारण महत्त्व है।

उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में राम भक्ति का-रामायण का प्रचलन बहुत है। इन क्षेत्रों में जहाँ धार्मिक संस्कार पाए जाते हैं, उनमें रामलीला आयोजन से संपन्न प्रभाव को नगण्य नहीं ठहराया जा सकता। जिन प्रांतों में कृष्ण भक्ति प्रचलन अधिक है उनमें कथा वाचकों और संप्रदायों की भी भूमिका रही है। रासलीला मंडलियों ने उस भक्तिभावना के लिए जो क्षेत्र तैयार किया है, उसे स्वल्प नहीं कहा जा सकता है।

प्रदर्शनों की उपयोगिता को देखते हुए समाज के मूर्द्धन्य व्यक्ति अपनी-अपनी रुचि के अनुरूप जन समाज को आकर्षित करने के लिए उनके संरजाम खड़े करते हैं। एक-एक दिन के उत्सव जयंतियों के रूप में अनेकों मनाए जाते हैं। शिवरात्रि, कृष्ण जन्माष्टमी, रामनवमी, महावीर जयंती, नानक जयंती आदि की अपने देश में धूम रहती है। संसार में अपने-अपने संप्रदायों के संगठनों के प्रवर्तकों की जयंतियाँ भी समारोहपूर्वक मनती रहती हैं। पौराणिक गाथाओं की स्मृतियों में प्रचलित समारोह भी अनेकों हैं। दिवाली, वसंतपंचमी, होली, विजयादशमी, गीता जयंती आदि के पीछे इतिहास नहीं उपयोगी प्रेरणा विद्यमान है। परंपरागत सभी उत्सव आयोजनों के पीछे उद्देश्य एक ही है-लोकमानस का उत्साह उभारा जाए और उसे उपयोगी दिशाधारा में नियोजित किया जाए।

नवरात्रि पर्व की गरिमा धर्म और संस्कृति के आरंभकाल से मानी जाती रही है। उसे आत्मोत्कर्ष की साधना का विशिष्ट अवसर कहा गया है। भारतीय उपासना पद्धति में सर्वप्रथम स्थान गायत्री महाशक्ति का है। आगम एवं निगम संप्रदायों के आत्मवादी और भौतिकवादी साधक उसी के सहारे दक्षिणमार्गी, वाममार्गी वैदिक और तांत्रिक उपासनाएँ करते रहे हैं। अतीत की वापसी के लिए आरंभ किए गए पुनर्जीवन, पुनर्निर्माण अभियान में भी उसी पुण्य परंपरा की पुनरावृत्ति करनी होगी। आत्मिक प्रगति के लिए किए जाने वाले साधनात्मक पुरुषार्थ में गायत्री उपासना को स्थान देने-दिलाने का प्रबल प्रयत्न करना होगा।

बिखराव और भिन्नता की दृष्टि से खान-पान, पहनाव-उढ़ाव जैसे लोक व्यवहार में अंतर रह सकता है किंतु दर्शन तो हर हालत में एक ही रहना चाहिए। दार्शनिक बिलगाव रहने पर व्यवहार की एकता अति कठिन हो जाती है। धर्मों के प्रयत्न भी चिरकाल से चल रहे हैं पर उनका प्रतिफल अभी परस्पर सहिष्णुता तक की स्थिति उत्पन्न

नहीं कर सकता। आएदिन भीतरी बिलगाव के बाहरी लक्षण विग्रह के रूप में उभरते रहते हैं। भारतीयता के अनुयाइयों को तत्त्वदर्शन की एकता बनाए रहने के लिए प्रथम प्रयत्न करना चाहिए। यह कार्य उपासना की धुरी गायत्री को सर्वजनीन बनाकर ही किया जा सकता है। 'एकता' नवयुग का लक्ष्य है। यह एकता उपासना क्षेत्र से आरंभ की जा सकती है। उसका परिणाम इतना तो तुरंत ही होगा कि अपने देश में सर्वत्र फैला पड़ा सांप्रदायिक बिलगाव बहुत हद तक समेटा जा सके।

सामूहिक उपासना की इस शृंखला के पीछे यह सिद्धांत भी कार्य करते हैं। यह कोई परंपरा नहीं है वरन आर्ष-परंपरा का ही एक साधारण प्रयोग है जिसके माध्यम से स्रष्टा जगत को धर्मनिष्ठ और स्वर्गतुल्य बनाने का अपना संकल्प भी पूर्ण करते जा रहे हैं, साथ ही इस देश और यहाँ के जातीय जीवन में एक अभिनव सामर्थ्य भी पैदा करने का प्रयोजन पूर्ण कर रहे हैं। इसे ब्रह्मवेला का ईश्वरीय निनाद समझा जाए और इस महान प्रयोजन की पूर्ति में संपूर्ण निष्ठा के साथ जुटा जाए तो यह स्वाधीनता संग्राम के सेनानियों से कम त्याग और बलिदान की बात नहीं होगी। पराधीनता के पाप से मुक्ति दिलाना एक महत्त्वपूर्ण कार्य था, भग्न राष्ट्र का पुनर्निर्माण उससे भी बड़ा कार्य है। दैवी अनुग्रह उसके लिए स्वयं आ प्रस्तुत हुआ है। अब अपनी-अपनी बात है कि उसे प्राप्त करने का पुरुषार्थ कौन लोग करते हैं और कौन लोग अमृत वर्षा के समय भी औंधे मुँह पड़े पात्र की तरह इस अलभ्य अवसर से चूककर रह जाते हैं।

❐

नैष्ठिक साधना का मूल प्रयोजन

युगसंधि की इस वेला में जाग्रत आत्माओं के लिए नैष्ठिक साधना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। यद्यपि व्यक्ति अपने निजी जीवन में सर्वदा स्वतंत्र और सशक्त है, फिर भी विशाल ब्रह्मांड में गतिशील हलचलों और परिस्थितियों के सम्मुख उसका स्थान नगण्य है। सिर पर खड़े पानी के बादल तक पर उसका अधिकार नहीं, वह उसे अपनी मनमरजी के अनुसार बरसा नहीं सकता। मौत बुढ़ापे तक को वह रोक पाने में असमर्थ है, परिस्थितियों पर उसका अधिकार नगण्य है। प्रवाहों में वह अपना यत्किंचित बचाव ही कर पाता है। सरदी उसके बूते रुकती नहीं, कपड़े लादकर, आग तापकर, बिजली से कमरा गरम रखकर, वह आत्मरक्षा भर कर पाने में आंशिक सफलता पा लेता है। इस स्थिति को देखते हुए नैष्ठिक साधना की अनिवार्यता के संदर्भ में एक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि मनुष्य वातावरण और प्रकृति के सामने सर्वथा असहाय असमर्थ है तो वह किस आधार पर वातावरण में अनुकूलन और परिस्थितियों में परिवर्तन कर सकता है? इसका एक ही उत्तर है कि प्रकट रूप में मनुष्य वातावरण के सामने सर्वथा असहाय असमर्थ भले हो पर सूक्ष्म प्रवाहों को प्रभावित करने, बदलने और अनुकूल करने की क्षमता मानवी चेतना में विद्यमान है। जीव ईश्वर का अंश है। मानवी चेतना, ब्रह्मांडव्यापी चेतना का एक भाग है। अंश में अंशी की सारी विशेषताएँ मूल रूप से विद्यमान रहती हैं और प्रयत्नपूर्वक वे मूल सत्ता के समान स्तर तक विकसित हो सकती हैं। उसकी प्रखरता बढ़ती रहे तो उसकी विकास-प्रक्रिया उसे महात्मा, दिव्यात्मा तथा परमात्मा बनने की स्थिति तक पहुँचा सकती है।

जड़ प्रकृति का वैभव विस्तार बहुत है, फिर भी उस पर नियंत्रण चेतना का ही है। शरीर का अस्तित्व एवं क्रिया-कलाप तभी तक है, जब तक कि उसमें प्राण की सत्ता काम करती है। प्रकृति ब्रह्म की

छाया मात्र है। ब्रह्मजगत ही वास्तविक है। प्रकृति-जगत की जड़ता पर चेतना की ब्रह्मसत्ता का ही नियंत्रण है। विकसित जीवात्मा ब्रह्मजगत से अपने आप को संबद्ध ही नहीं करते वरन उसके साथ एकाकार होकर इतने सक्षम भी बन जाते हैं कि प्रकृति-प्रवाह में आवश्यक हेर-फेर कर सकें, वातावरण की प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदल सकें। योगी और तपस्वी क्रमशः उसी स्थिति की ओर बढ़ने के लिए तप साधना का पुरुषार्थ करते हैं।

चेतना के संघात से वातावरण में वांछित परिवर्तन संभव है। अदृश्य जगत में कई बार ऐसी प्रेरणाएँ उभरती हैं जिनके आँधी-तूफानों में, मनुष्यों के मस्तिष्क पत्तों और तिनकों की तरह हिलने लगते हैं। युद्धोन्माद ऐसे ही उभरते हैं। उन दिनों अधिकांश लोग लड़ने की आवश्यकता अनुभव करते और उसके लिए उतारू से दिखते हैं। प्रजातंत्र की लहर एक समय चली और उसने राजतंत्र को संसार भर से उखाड़ फेंकने तथा उसके स्थान पर लोकतंत्रीय शासन स्थापित करने का चमत्कार ही उत्पन्न कर दिया। एक लहर साम्यवाद की उठी। उसने रूस के नेतृत्व में एशिया और यूरोप के अनेक देशों को अपना अनुचर बना लिया। इन दिनों संसार भर के मनुष्यों में से प्रायः आधे लोग साम्यवादी विचारधारा के पक्ष में सोचने और उसको पूरा या अधूरा समर्थन देते हैं। इन प्रजातंत्र और साम्यवाद के विचार-प्रवाह को अपने युग की प्रचंड लहरों में गिन सकते हैं।

भगवान बुद्ध का धर्मचक्र प्रवर्तन साधन प्रधान नहीं प्रवाह प्रधान था। साधनों ने प्रवाह उत्पन्न नहीं किया था, प्रवाह ने साधन खड़े कर दिए थे। हर्षवर्द्धन, अशोक आदि राजाओं ने मिलकर बुद्ध को धर्मप्रचारक नियुक्त नहीं किया था। बुद्ध ने ही हवा गरम की थी और उसकी गरमी से लाखों सुविज्ञ, सुयोग्य और सुसंपन्न व्यक्ति अपनी आत्माहुति देते हुए चीवरधारी धर्म सैनिकों की पंक्ति में अनायास ही आ खड़े हुए थे।

धर्मप्रवर्तकों में से प्रत्येक ने अपने-अपने समय में अपने-अपने ढंग से वातावरण को गरम करके अपने समर्थन की भाव तरंगें उत्पन्न की हैं और उस प्रवाह में असंख्य व्यक्ति बहते चले गए हैं। पराधीनता-पाश से मुक्त होने वाले देशों में भी आजादी की लहर बही और उसके कारण अनगढ़ ढंग से आंदोलन फूटे तथा अपने लक्ष्य पर पहुँचकर रहे। अदृश्य और सूक्ष्म वातावरण के तथ्य तथा रहस्य को जो लोग जानते हैं, वे समझते हैं कि इस प्रकार के प्रवाह कितने सामर्थ्यवान होते हैं। उनकी तूफानी शक्ति की तुलना संसार की और किसी शक्ति से नहीं हो सकती। रामायण काल के वानरों द्वारा जान हथेली पर रखकर जलती आग में कूद पड़ना जिस प्रवाह की प्रेरणा से संभव हुआ उसका स्वरूप और महत्त्व यदि समझा जा सके तो प्रतीत होगा कि जनसमुदाय को किसी दिशा विशेष में घसीट ले जाने की सामर्थ्य सूक्ष्म वातावरण में भी इतनी है जिसे साधनों के सहारे खड़े किए गए आंदोलनों से कम नहीं अधिक शक्तिवान ही माना जा सकता है।

युग निर्माण योजना का एक पक्ष आंदोलनपरक है, जो एक शब्द में विचार क्रांति अभियान का वह स्वरूप है जिसकी रूपरेखा, जानकारी और प्रेरणा सर्वसाधारण को बहुत समय से दी जाती रही है, जिसके लिए सामर्थ्य भर प्रयत्न किया जाता रहता है। दूसरा पक्ष प्रस्तुत प्रयोजन के लिए सूक्ष्म वातावरण में आवश्यक गरमी और तेजी उत्पन्न करना है। जनसमर्थन और जनसहयोग के लिए प्रचार-साधनों पर उतना निर्भर नहीं रहा जा सकता जितना कि वातावरण के अनुकूलन पर। सूक्ष्मजगत का प्रवाह यदि सहयोगी बन रहा हो तो अभीष्ट प्रयोजन में सफलता प्राप्त करने की संभावना कहीं अधिक बढ़ जाती है।

अध्यात्मविद्या में सूक्ष्मजगत का, सूक्ष्म वातावरण का महत्त्व इस संसार के समस्त साधनों में सर्वोपरि माना गया है। युग-परिवर्तन के लिए, वातावरण के अनुकूलन के लिए हमें अध्यात्म विज्ञान के

अनुरूप प्रचंड प्रयास करने होंगे। इतना बड़ा कार्य उसी दिव्यशक्ति के माध्यम से संपन्न हो सकेगा।

विशिष्ट आध्यात्मिक उपचारों की प्रचंड ऊर्जा उत्पन्न करके भी वातावरण बदला जा सकता है। प्रखर प्रतिभाएँ अपनी प्राणशक्ति से युग को बदलती हैं। अवतारी महामानव समय के प्रवाह को उलटते हैं। ठीक इसी प्रकार तप साधना की चेतनात्मक प्रचंड ऊर्जा सूक्ष्म जगत को परिष्कृत करके उसे इस योग्य बना सकती है कि सुख-शांति की परिस्थितियाँ उत्पन्न होने लगें और उज्ज्वल भविष्य की संभावनाएँ दैवी अनुग्रह की तरह उमड़ती चली आएँ। व्यक्ति विशेष की तपश्चर्या और सामूहिक अध्यात्म साधना के यदि प्रबल प्रयास हो सकें तो वातावरण बदलने के चमत्कार उत्पन्न हो सकते हैं।

सूक्ष्म वातावरण का परिशोधन करने के लिए अध्यात्मविज्ञानियों द्वारा कतिपय दिव्य उपचार समय-समय पर किए गए हैं। इनके प्रमाण शास्त्रों में मिलते हैं। रावण काल के विक्षुब्ध वातावरण को समाहित करने का कार्य लंकाविजय के उपरांत भी शेष रह गया था। इसके लिए भगवान राम ने दशाश्वमेध घाट पर दस अश्वमेधों की संकल्प शृंखला पूरी की थी। कंस, दुर्योधन, जरासंध जैसे असुरों के न रहने पर भी महाभारतकाल के विक्षोभ वातावरण में भरे रहे। भगवान कृष्ण ने उसका समाधान आवश्यक समझा और पांडवों से राजसूय यज्ञ कराया। महर्षि विश्वामित्र अपने समय की असुरता को दुर्बल बनाने के लिए जो वृहद यज्ञ रच रहे थे, उसका पता असुरों को चल गया और वे ताड़का, सुबाहु, मारीच के नेतृत्व में उसे नष्ट करने के लिए आक्रमण करने लगे। राम और लक्ष्मण को यज्ञ की रक्षा के लिए जाना पड़ा था। ऐसे समाधान उपचारों में यज्ञ-प्रक्रिया का बहुत महत्त्व रहा है। यज्ञों में अग्निहोत्र की तरह ही जपयज्ञ भी है। अग्निहोत्र में साधन चाहिए पर जपयज्ञ व्यक्तिगत साधना से भी संपन्न हो सकता है। यज्ञ तो सामूहिक

ही होते हैं। उससे होताओं की सम्मिलित साधना का चमत्कार देखने को मिलता है। जपयज्ञ को जब अनेक जपकर्ता संकल्पपूर्वक समाहित होकर करते हैं तो उससे भी सम्मिलित शक्ति उत्पन्न होती है। ऐसी सामूहिक साधनाएँ पुरश्चरण कहलाती हैं। तपश्चर्या युक्त सामूहिक संकल्पों के द्वारा विशिष्ट उद्देश्य के लिए किए गए पुरश्चरण भी वातावरण में अभीष्ट अनुकूलता उत्पन्न करते हैं।

वैयक्तिक विशिष्ट तपश्चर्याएँ अपनाकर आत्मविकास और व्यापक परिस्थितियों में उपयोगी परिवर्तन करने का प्रयत्न करते हैं। हिमालय पर अभी भी ऐसी दिव्य आत्माएँ विशिष्ट तप साधना में संलग्न हैं और समय-समय पर अपनी आत्मिक क्षमता से वातावरण के अनुकूलन का यथासंभव प्रयत्न करती है। हम समझ भले ही न पाएँ पर उसका उपयोगी लाभ मिलता है। यदि ऐसा न होता तो वातावरण की विकृति बढ़ते-बढ़ते इस स्थिति पर पहुँच गई होती कि महाविनाश के अतिरिक्त वहाँ कुछ भी दिखाई न देता। श्रेष्ठता का जो प्रकाश इन दिनों दिखाई देता है, वह आसुरी आक्रमणों से कबका लुप्त हो गया होता। अस्तु, विविध साधकों को उनकी सामर्थ्य के अनुरूप अतिरिक्त रूप से भगीरथ तप साधना के संकल्प सौंपे गए हैं। संकल्प उन साधकों को सौंपे गए हैं जो पिछले कई वर्षों से युग निर्माण योजना के देव परिवार से संबद्ध हैं। उन्हें समय-समय पर वर्तमान परिस्थितियों की विषमताओं और महाकाल की युग प्रत्यावर्तन प्रक्रिया के संबंध में बताया-समझाया जाता रहा है। यों उन्हें इस संक्रमण वेला में अपनी विशिष्ट भूमिका निभाने के लिए कहा गया है।

देव परिवार के परिजन भलीभाँति जानते हैं कि इन दिनों सूक्ष्म-जगत में नवसृजन की भूमिका निभाने वाली वर्षाऋतु का आगमन हुआ है। उससे जो दिव्य अनुदान बरसने वाले हैं या बरस रहे हैं, वे सृजन की सत्प्रवृत्तियों को सिंचित, पोषित और अंकुरित-फलित करेंगे।

वर्षाऋतु आरंभ होते ही हर क्षेत्र में नई हलचल दिखाई पड़ती है। तवे सी जलती जमीन पर मखमली कालीन बिछी दीखती है। बिना बोई घास अपने आप ही उगती और हरियाली से धरातल को सुरम्य बनाती है। जलचर संतोष की साँस लेते हैं, उन्हें कलोल करने का अवसर मिलता है। सूखे हुए तालाब लबालब भर जाते हैं और उनके आश्रय में रहने वाले जीवों को गाते-फुदकते देखा जा सकता है। घटा गरजती है और मोर नाचते हैं। पेड़-पौधे उगते और बढ़ते चले जाते हैं। दादुरों का सामगान सुनते ही बनता है।

इन दिनों अंतरिक्ष में नवसृजन की भूमिका निभाने वाली वर्षा-ऋतु का आगमन हुआ है। उसने अपने समूचे प्रभावक्षेत्र को अनुप्राणित किया है। चेतना की अपनी दुनिया है जो आँखों से तो नहीं दीखती पर विचारणा और भावना के रूप में अपने प्रचंड अस्तित्व का प्रमाण-परिचय पग-पग पर देती है। जनमानस चिरकाल से दुर्भिक्ष-पीड़ित धरातल की तरह उदासी से भरा था। लगता था-समय काटना ही उसके भाग्य में है। अँधेरे में लगता था-सर्वत्र अस्त-व्यस्तता, नीरसता और निष्क्रियता का ही साम्राज्य है, पर प्रकृति ने करवट बदली तो परिस्थितियाँ इस तरह उलटीं मानों किसी ने जादू की छड़ी घुमाई और अप्रत्याशित चमत्कार प्रस्तुत कर दिया। इन दिनों युगांतरीय चेतना घनघोर वर्षा की तरह बरसती देखी जा सकती है। जनमानस पर छाई हुई उदासी और निराशा में अद्‌भुत परिवर्तन हुआ है। उज्ज्वल भविष्य की चर्चा चल पड़ी है और नवसृजन में किसका, कितना योगदान हो सकता है-उसी की रंग-बिरंगी योजनाएँ बन रही हैं। जिस संकीर्ण स्वार्थपरता ने जन-जन को कृपण और निष्ठुर बना रखा था उसके पैर इतनी जल्दी, इतनी तेजी से उखड़ सकते हैं इसकी कल्पना भी नहीं थी, पर सूत्रधार को क्या कहा जाए? इसके संकेतों से पटाक्षेप होने और नए दृश्य प्रस्तुत होने में देर नहीं लगती। बड़ी हलचलें मूर्द्धन्यों से

आरंभ होती हैं। समयानुसार उनका प्रभाव और परिणाम जनसाधारण के सामने आता है।

युग निर्माण परिवार के परिजनों को चेतनाजगत के 'मूर्द्धन्य' कहने में कोई अत्युक्ति नहीं। सामान्यजन पेट प्रजनन के अतिरिक्त कदाचित ही और कुछ सोच पाते हैं। उनकी गतिविधियों में वासना और तृष्णा की पूर्ति के अतिरिक्त और कुछ होता ही नहीं। चिंतन पर लोभ और मोह की छाया रहे तो प्रयास में उत्कृष्टता का समावेश हो नहीं सकेगा। परिस्थितियों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं, वे मनःस्थिति की उपज भर होती हैं। मकड़ी जाले को तानती भी है और इच्छानुसार उसे समेटकर उदरस्थ भी कर लेती है। मनुष्य का अंतराल बदले तो बाहर का सारा जंजाल उलट कर कुछ से कुछ होते देखा जा सकता है। यह प्रसंग कभी दार्शनिकों के मुँह से सुने जाते थे, पर उनकी यथार्थता जाँचने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। युगशिल्पियों की भावनाओं, विचारणाओं और गतिविधियों का जो दौर इन दिनों चल रहा है उसे देखते हुए यह स्वीकार करने में किसी को भी कठिनाई नहीं हो सकती है कि परिस्थितियाँ तो पोशाक भर हैं। जीवट तो अंतराल में रहती है।

युगांतरीय चेतना बरस तो बहुत दिनों से रही थी, पर उसकी मात्रा कभी ओस जितनी, कभी फुहार जैसी रहती थी, जब उसने अपनी प्रखरता घटाटोप जैसी विकसित की है तो उल्लास भी अनायास ही उभरा है। अग्रगामी उस आगमन की ध्वजा उड़ाते हुए प्रथम पंक्ति में चल रहे हैं।

समूचे देवपरिवार में नवसृजन के लिए कुछ करने का जो मनोरथ चिरकाल से चल रहा था उसने इन दिनों साहस भरे प्रयास से अपना स्तर बदला है। सोचना-करने के रूप में परिवर्तित होते देखकर यह अनुमान लगता है कि युग चेतना ने जीवंतों को सहमत बनाकर ही

नहीं छोड़ा वरन उन्हें गतिवान होने के लिए विवश कर दिया। आश्चर्यजनक होता है कि व्यस्तता, दरिद्रता, चिंता आदि के बहाने जो चिरकाल से गढ़ते चले आ रहे थे और विवशता, असमर्थता जैसे शब्दों से अपनी कृपणता को सँजोए रहते थे–उन्हें रातोंरात क्या हो गया ? उन्हें इतनी फुरसत कहाँ से आ गई कि नित्य कर्मों की तरह सृजन प्रयोजनों को प्राथमिकता देने लगे।

समुद्र बादलों को देता है, बादल धरती को। हिमालय नदियों को देता है, नदियाँ खेतों को। धरती पौधों को देती है, पौधे प्राणियों को। अमृत जाग्रतों पर बरसता है, जाग्रत उस उपलब्धि को जन-जन पर बिखेर देते हैं। यह बिखराव और वितरण इन दिनों इस चुस्ती-मुस्तैदी से चल रहा है कि नवयुग के आगमन में किसी प्रकार के संदेह की गुंजाइश नहीं रह जाती। संकीर्ण स्वार्थपरता का उदार परमार्थ-परायणता में बदल जाना ही युग-परिवर्तन है। इसका आरंभ मूर्द्धन्यों से हुआ है। अंत में उस दिव्य अनुदान से जन-जन को लाभान्वित होते देखा जा सकेगा। उसे इन्हीं आँखों से देखने के लिए अपने पाठकों में से अधिकांश जीवित रहेंगे।

जाग्रत आत्माओं पर, मूर्द्धन्यजनों पर बरसने वाला यह अनुदान उन्हें नवसृजन की प्रवृत्तियों में तन्मयतापूर्वक संलग्न कर रहा है। उसके सत्परिणाम शीघ्र ही देखने में आएँगे इसमें कोई संदेह नहीं है।

❐❐❐

मुद्रक–युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)